आधुनिकी

हिन्दी कविता
समकालीन हिन्दी-साहित्य
का
एक तटस्थ अध्ययन

बदरी नारायण सिनहा

आज तक की

हिन्दी-कविता
('६१–'६६)

समकालीन हिन्दी-साहित्य का एक तटस्थ अध्ययन

बदरी नारायण सिनहा

२०२४] श्री गणपत प्रकाशन [१९६७
पटना

प्रकाशक :
श्री गणपत प्रकाशन
पटना–१

C सर्वाधिकार लेखक के अधीन

मूल्य—२)५०

मुद्रक :
आनन्द प्रेस
भागलपुर–२

GIFTED BY
Shri Subhan Singh, IAS.
Tel: 9845143758

माँ !

चरण-धूल स्वर-मूल बने
गहन साधना वर्ष-वर्ष की
भाव-मनन-भाषोत्कर्ष की
जन, संस्कृति अनुकूल बने
जर्जर, हत में शक्ति भरें जो
तप से संचय अमृत करें जो
उनका सुरभित फूल बने

— बदरी

GIFTED BY

Shri Bishan Singh, IAS.
Acc. No. 9848143758

देश के, विश्व के
एवं अपने नौनिहालों,
आनंदवर्द्धन,
जयश्री,
अधरधर
को
साशिष—

— बदरी

प्राक्कथन

"प्राथमिकी", "माध्यमिकी", यह है "आज तक की" : सन् १९६१ ई० से २६, जनवरी १९६७ ई० के हिन्दी-साहित्य, अर्वाचीन साहित्य का मूल्यांकन। यदा-कदा विगत वर्षों और २६, जनवरी के बाद की कृतियों का भी स्पर्श हो गया है, जो स्वाभाविक था, संपदा एवं संभावना की दृष्टियों से।

और क्या लिखूँ ? जो कहना था, कह दिया। सर्वत्र। अपने द्वारा अभिप्रेत, निश्चित आदर्श, समीक्षक के दायित्व, "प्राथमिकी" में वर्णित आदर्श के पालन में कुछ उठा नहीं रक्खा। काम पर ही गया हूँ, नाम पर नहीं। और मूल्यांकन बिना किसी ममत्व के है। और एक भी शब्द फिजूल नहीं है।

फिलहाल, "आज तक की"—हिन्दी कविता पर लिखित समीक्षा—प्रकाशित हो रही है; इसके बाद, इसी वर्ष, हिन्दी-गद्य रचना पर लिखित समीक्षा प्रकाशित होगी। पैसे, पेशे और प्रकाशन के अपने-अपने तकाजे हैं; जूझकर जो कुछ लिख सका और छपवा सका, आपके समक्ष है।

जय हिन्द ! जय हिन्दी !!

भा ग ल पु र
रा म न व मी
२०२४
१८-४-१९६७

— बदरी

GIFTED BY

Shri Tilkam Sinha, IAS.
Cell: 9643143758

सूची

विषय		पृष्ठ
आधार	....	क
वर्त्तमान हिन्दी कविता :	चिर अपेक्षित शक्ति	१
	बोध	९
	विधान : आडम्बर : स्वर	१६
	नवांकुर	३३
	काव्य : कथा, महा	४५
	पाश्चात्य प्रभाव	६३
	सौ प्रश्न : एक उत्तर ...	७६

आधार

१९५४–६०

नई कविता	: अंक १, २, ३, ४, ५ प्रकाशन १९५४, ५५, ५६, ५९ संपादन-जगदीश गुप्त + अन्य	
शब्द-दंश	: जगदीश गुप्त	१९५९
नई प्रतिभाएँ	: संपादन— बेचन	१९५६
बरसात	: वारिद	१९५७
समानान्तर सुनें	: शान्ता सिनहा	१९५८
अरी ओ करुणा प्रभामय	: अज्ञेय	१९५९
क्वार की साँझ	: रामनरेश पाठक	१९५८
गीत-संगम	: श्री रञ्जन सूरिदेव	१९५५
बावरा अहेरी	: अज्ञेय	१९५४
गीत फरोश	: भवानी प्रसाद मिश्र	१९५६
इन्द्रधनुष रौंदे हुए	: अज्ञेय	१९५७
ये शूल-फूल	: रामेश्वर झा 'द्विजेन्द्र'	१९५४
५५ की श्रेष्ठ कविताएँ	: उदयशंकर भट्ट, प्रशंसक रमाकान्त पाठक, संपादक	१९५६
आधुनिक कविताएँ	: रणधीर सिन्हा, पद्मनारायण }	संपादन १९५९
अनु-क्षण	: प्रभाकर माचवे	१९५६
कविताएँ	: कीर्ति चौधरी	१९५८
रजनी गंधा	: सम्पादन-तारकेश्वरप्रसाद	१९५५
सतरंगे पंखोवाली	: नागार्जुन	१९५९

श्रेष्ठ कवयित्रियों की प्रतिनिधि रचनाएँ	: सं०—स्नेही	१९६३
दीपाराधना—	: आनंदशंकर माधवन	१९६४
प्राणद्वन्द्व	: वीरेन्द्र कुमार गुप्त	१९६३
आत्मजयी	: कुँवर नारायण	१९६५
नई कविता	: जगदीश गुप्त विजयदेवनारायण साही	१९६०-६१
धरती के गीत	: चन्दनमल चांद	१९६५
धरती और मेघ	: रामचन्द्र सिंह	१९६६
लोकायतन	: सुमित्रानंदन पंत	१९६४
परशुराम की प्रतीक्षा	: रामधारी सिंह 'दिनकर'	१९६३
गीत-हंसिनी	: मदनगोपाल पांडेय 'अरविन्द'	१९६६
एक सूनी नाव	: सर्वेश्वर दयाल सक्सेना	१९६६
कविताएँ (प्रकाश्य)	: सच्चिदानन्द सिनहा	१९६३-६७
प्रेरणा	: इन्दु सिनहा	१९६५-६७
अब बहु से सब जन हिताय	: बदरीनारायण सिनहा	१९६६
टटका आदम	: ,,	१९६६
आगन्तुका (प्रकाश्य)	: ,,	१९६६
सिसिफ्कस वर्क्स हनुमान	: बच्चन	१९६५
मुक्ति-प्रसंग	: राजकमल चौधरी	१९६६
कोयला और कवित्व	: रामधारी सिंह 'दिनकर'	१९६४
अखिल भारतीय प्रचार स्तर की पत्रिकाएँ	: सभी	१९६०-६६
आरण्यक	: आरसी प्रसाद सिंह	१९६६
ओमा	: तेजनारायण कुशवाहा	१९६४

आरे बादरा, कारे बादरा	: नंदकिशोर प्रसाद	१९६५
तूर्यनाद	: 'प्राण'	१९६३
लोकप्रिय गीत	: राकेश	१९६३
गीत के आँसू	: भुवनेश	१९६१
जय जवान, जय किसान	: सम्पादक, अनन्तराम दूबे, 'प्रभात'	१९६६
विजित जयी	: अवधभूषण मिश्र	१९६६
सेतुबंध	: सं—उग्रनारायण मिश्र	१९६६
जय जवान	: सं—बेचन	१९६६
विविधा	: सं—राजेन्द्रकिशोर	अंक
ये सात और हम	: भगवती चरण वर्मा	१९६५

—::०::—

हिन्दी कविता

१. वर्त्तमान कविता की चिर-अपेक्षित शक्ति

हमारे कान पक गये हैं सुनते सुनते : 'क्षितिज के उस पार', 'समाज बदल डालो', 'रॉबट' और 'गंदी नाली के कीड़े'। वाद से जकड़ी पदावलियाँ, रति की रीति, भाव, छंद के उन्मुक्त प्रवाह-स्वर भी ज्ञान-तन्तु को झकझोरते नहीं।

पर नहीं, कान पुनः खड़े हो गये हैं, हिन्दी कविता में चिर-अपेक्षित, प्रतीक्षित शक्ति आई है। इसे नाम न दें, इसके आदि कर्णधार को न ढूंढ़ें, इसकी अवधि-परिधि न नापें। अभीष्ट होगा।

कारण, कबीर में, नानक में, बिहारी में, रहीम में, प्रसाद में, बहुलांश में निराला में, कुछ-कुछ अज्ञेय में यह शक्ति लक्षित है। इसका प्रधान गुण है विवेक, जो आनंदित करता है, उभारता है; इसके हो वाह्य उपकरण हैं वाक्-वैचित्र्य, 'उलटबांसी', व्यंग्य, तर्क, विवाद, संलाप, गजल, रुबाई, दोहे, चतुष्पदी। फिलहाल, गजल, रुबाई, मुक्तक के रूप में यह प्रवृत्ति जोर पकड़ रही है, परन्तु काव्य के उत्स को उभार कर ही।

विवेक इस गुण को संज्ञा देता है, यद्यपि पूर्णतः नहीं। यह ठीक है, तर्क से यह शब्द विशेष व्याख्यात्मक है, वाक्-वैचित्र्य का तो यह कतई द्योतक है ही नहीं; बुद्धि, विवेक, मनन तीनों के प्रदत्त बोध को हम काव्य के उत्कृष्ट धर्मों में एक कह सकते हैं। रामचंद्र शुक्ल द्वारा व्यवहृत "वाक्-वैचित्र्य" की संज्ञा में 'विट्' नहीं सिमटा जा सकता है, कारण, यह कारण हो सकता है, स्वयं ही धर्म नहीं।

यह भ्रांति पर अभी तक दूर नहीं हुई है। नगेंद्र की नवीनतम रचना, उनके ही शब्दों में 'उत्तमांश', 'रस-सिद्धान्त' इस मूल धर्म की परख में कच्ची रही है मानो प्राचीन, अर्वाचीन, पूर्वी, पश्चिमी मतों की माथापच्ची में समीक्षक की दृष्टि फिसल गई। एक नहीं अनेक भ्रांतियाँ मंथन में लुप्त न होकर पुस्तक के सब से शक्तिशाली, प्रौढ़ अध्याय, अंतिम अध्याय—"शक्ति और सीमा"—में छहलाती रहती हैं। "अलंकार केवल रस के उपकारक ही नहीं, वे रस की अभिव्यक्ति के अनिवार्य माध्यम हैं: काव्य की भाषा (रस की अभिव्यक्ति)—व्यापक अर्थ में—अलंकृत ही हो सकती है—कोई भी कृती कवि चमत्कार-विहीन शब्दार्थ के माध्यम से रमणीय अर्थ या भाव का प्रतिपादन नहीं कर सकता और न कोई कृती आलोचक ही इसे सिद्ध कर सकता है।" यह निष्कर्ष भ्रामक है, बिलकुल, शास्त्र के एक निर्बल पक्ष को ही सर्वपक्षों का पर्याय मान लेने के जैसा। 'भगवद्गीता' में कौन-सा अलंकार है या शाब्दिक चमत्कार। कबीर में? निराला में भी? अलंकार चमत्कार का एक अंग है। ऐसा ही कुहरा-भरा निष्कर्ष यह है: "काव्य के अन्य समस्त तत्त्वों की अपेक्षा में भाव का गौरव अक्षुण्ण है—रहा है और रहेगा और इसी अनुपात से काव्य के विभिन्न सिद्धान्तों की अपेक्षा रस-सिद्धान्त का महत्त्व भी अक्षुण्ण है, रहा है और रहेगा।" यह निष्कर्ष प्रथम निष्कर्ष की भाँति सीमित है, अलंकार-सिद्धान्त, रीति-सिद्धान्त, वक्रोक्ति-सिद्धान्त, ध्वनि-सिद्धान्त, औचित्य-सिद्धान्त और रस-सिद्धान्त की व्यापक व्याख्याएँ देकर नगेन्द्र वहीं लौट पड़ते हैं जहाँ से शुरू करते हैं मानो साहित्य में फैले कुहरे और रचनाकारों की एकोन्मुखी प्रेरणाओं में उलझ कर समीक्षक रह जाता है। यह भ्रांति आज तक कारगर है, यही चिंता की बात है। अन्यथा 'रस-

सिद्धान्त' की चिंतन-भूमि और फैली स्थली, नगेन्द्र के मनन की उपेक्षा कदापि नहीं की जा सकती। पुस्तक प्रधानतः परिचयात्मक है, अंत में विश्लेषणात्मक। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् से प्रसारित 'परिषद्-पत्रिका', जुलाई १९६५, में 'रस-परिचय' नामक लेख में किशोरी दास वाजपेयी की व्याख्या असंगत है: "मस्तिष्क का साहित्य और हृदय का साहित्य, ज्ञान-विज्ञान और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का संपूर्ण साहित्य मस्तिष्क से सम्बन्ध रखता है। इस तरह के सम्पूर्ण साहित्य को हम 'ज्ञान प्रधान साहित्य' कह सकते हैं। हृदय से सम्बन्ध रखनेवाले साहित्य का नाम 'काव्य' है।" रस को काव्य की आत्मा कह कर, वाक्यं रसात्मकं काव्यम् को दुहराकर, वाजपेयी ने रस को एक 'घपला' कह डाला। घपला है यह, पर इसके लिये रस कसूरवार नहीं, भ्रमित साहित्यकार, उलझे विवेचक हैं। रस आनन्द, अनुभूति, प्रभाव, आह्लाद सब का बोध है, हाँ, अलग-अलग नहीं। नगेन्द्र ने रस को अनुभूति के निकट मान कर रस का सामीप्य हासिल किया है, किन्तु वे रस का रस न ले सके हैं। यही कारण है कि आलोचक से मौलिक रचनाकार तक रस के विवेक पक्ष से उदासीन रहे हैं, मस्तिष्क और हृदय जैसे दो अवयवों के समन्वय को पहचान नहीं पाये है, भामिनियों के अवलोकन में ही वे अटके रहे हैं, यहीं नहीं, विदेश में भी, अनेक साहित्य-क्षेत्रों में।

'मेटाफीजक्ल पोयट्री' की इज्जत बीसवीं सदी में हुई, ड्राइडेन और जॉनसन कवियों के रूप में प्रतिष्ठित हुये बहुत बाद, प्रतिक्रिया इनके अनुकूल कहीं-कहीं इतनी उग्र हुई कि शेली के सारे काव्य को 'गीला गान' कहा गया, शेली की निन्दा, हंसी का प्रचलन आधुनिकता से विभूषित रहा। कवियों और अधकचरे समीक्षकों और गुटका-लेखकों और थके अध्यापकों ने हमारे यहाँ

भी वड्सवर्थ की आधी सही सूक्ति—कविता स्वच्छन्द प्रवाह वाली सूक्ति—को ही दुहराने की आदत लगा ली, जिसके ही कारण 'वियोगी होगा पहिला कवि', महादेवी की 'नीर-भरी बदली', इत्यादि का पोषण हुआ। रहीम के दोहे, बिहारी के भी, कबीर, निराला की पदावलियों को किलकारियाँ नहीं मिलीं, विश्व की एक श्रेष्ठ रस-मंजरी, उर्दू शायरी, में साकी, सुराही, बाला के ही दर्शन मिले। उर्दू शायर और उर्दू शायरी के आशिक क्या-क्या न ढूंढ़ते रहे हैं।

विवेक का पुट सफल काव्य का प्राण है। पर विवेक न कुण्ठा ही है, न तर्क, न वैचित्र्य, न वक्रोक्ति। विवेक कड़वा प्रतीत होता है, यह ठीक है, इसलिये काव्य में यह खुल्लमखुल्ला अपनाया न गया, अठाहरवीं सदी के अंग्रेजी साहित्य को 'बौद्धिक' कहा गया, शुष्क। इसी प्रकार हमारे यहाँ द्विवेदी के दायें-बायें रहनेवाले रचनाकारों में गुरु प्रकृति देखी गई और पंत, महादेवी की झंकारों में, यहाँ तक बच्चन की "मधुशाला" में नव विधान पाया गया। उमर खैय्याम की रुबाइयों के गलत अर्थ भी लगाये गये जब कि इन रुबाइयों में विवेक की प्रखर आँच में उफनाई कातरता, जीवन को आनन्दकंद करने की विह्वलता, सार्थक जीने की आतुरता, बढ़ते हुए कारवाँ की अधीरता शांत हो जाती है। स्मरण रहे, महादेवी के आंसू पद्य में बह कर सूख गये, उनकी वेदना को रूप मिला उनके रेखा-शब्द-चित्रों में, गद्य में।

'नव ताल नव गति नव छन्द' में प्रकट वर्त्तमान कविता नई कहलानेवाली, स्वांग भरनेवाली भी नाज नखरेवाली, लाखों अदावाली कविता में इस विवेक का पुट ही एक ऐसा स्वस्थ उपकरण है कि इसकी बहुत-सी गलतियाँ क्षम्य हो जातीं। यह

गुण सभी उच्च, सफल कहना विशेष उपयुक्त होगा, काव्य में होता, वाल्मीकि के 'रामायण' से लेकर प्रसाद की 'कामायनी' तक में, फिरदौसी से लेकर साहिर लुध्यानवी में, उर्दू शायरी की भित्ति इसी पर टिकी है, मजबूती से, नहीं कि चिलमन पर, मदिरा पर। कहने की अदा में उर्दू शायरी की संपदा हासिल न हुई, परन्तु उर्दू शायरी विश्व की महती देन है, इसके 'अंदाज' और "बयाँ" "कुछ और हैं", महज गालिब के ही नहीं, अदनों के भी। इधर हिन्दी में मुक्तक, गजल, रुबाई के ढेर और उर्दू शब्दों की टेर का रसास्वादन इसी कारण संभव है।

"जी में आता है ये मुर्दा चांद तारा नोच लूँ,
इस किनारे नोच लूँ और उस किनारे नोच लूँ,
एक दो का जिक्र क्या, सारे के सारे नोच लूँ,
ऐ गमे-दिल क्या करूँ, ऐ वहशते-दिल क्या करूँ ?
बढ़ के इस इन्दर सभा का साजो सामां फूँक दूँ,
इसका गुलशन फूँक दूँ उसका शबिस्तां फूँक दूँ,
तख्ते सुलतां क्या, मैं सारा कैसरे-सुलतां फूँक दूँ।"

'शबिस्तां' का अर्थ 'शयनागर', 'कैसरे सुलतां' का अर्थ 'बादशाह का महल' न जानने वाले भी 'मजाज' लखनवी के तरन्नुम की संवेदना अनुभव करते हैं, दर्द और इंकिलाब की अधीरता समझ लेते हैं। इसमें इन्दर सभा, गुलशन, चांद की बात है, चूँकि सभी इसी से परिचित हैं, सभी इनके नाम पर एक आलम को देख लेते हैं, परन्तु मजाज ने आलम को मिटा डाला, विवेक से, मीठे, तीखे विवेक से, एक कड़वेपन से।

बहु-चर्चित हिन्दी की दो कविताएँ लें, 'गीत-फरोश' (१९४७), शब्दों के महल' (१९५३), भवानी प्रसाद मिश्र के 'गीत फरोश' ही के नाम से प्रकाशित संग्रह को लें; इसमें कोई मज़ाक

नहीं है, ऊपर से ऐसा लगने पर भी, 'भीतर जाकर पूछ आइए आप' पर एक हंसी भी छूटती है, 'किसिम-किसिम के गीत', 'छंद और बेछंद' या 'इल्मी, फिल्मी', डिजाइनों में तो स्वयं नई कविता पर कहकहे मालूम पड़ते हैं। 'शब्दों के महल' में खड़ी की गई समा में कवि की ठिठोली स्पष्ट भी होती है, परन्तु भवानी प्रसाद मिश्र को बेतुका, भटका न कहकर एक सफल कवि कहना चाहिये। इन दो कविताओं में कुएठा नहीं है, संवेदना है, कवित्व की जागृति है, हिन्दी काव्य का बदला कलेवर है! अनेक कविताएँ १९४४ और इससे पूर्व भी लिखी गईं, कुछ तो बहुत पूर्व यह ठीक है, परन्तु भवानी प्रसाद मिश्र के इस संग्रह के प्रथम और अंतिम गीत हिन्दी काव्य की उपलब्धियाँ हैं।

"कुक्कुरमुत्ता" और "नए पत्ते", "इत्यलम्" में यह अभिनवता आई थी, निराला के हाथों तो जरा जोरों से, 'वह तोड़ती पत्थर' में रौंदन विशेष है, रोदन कम। यही रौंदन भी काव्य है, यही लोग जानें, समीक्षक की उपाधि संवारनेवाले मानें। भवानी प्रसाद मिश्र के "गीत-फरोश" में रोदन नहीं है, फैली हुई अराजकता और मनपसंदगी के रौंदन नहीं है, सजग, सचेत कवि के रौंदन हैं!

विवेक 'शाब्दिक चमत्कार' नहीं है, इसलिये न वाक्-वैचित्र्य न वक्रोक्ति, विवेक इसलिये कोई अलंकार भी नहीं है, विवेक एक उद्गार है, जिसमें घनत्व होता, दर्शन का साधारण घनत्व नहीं, चातुर्य का ममत्व नहीं, साहचर्य का घनत्व, संवेदना का घनत्व होता।

उर्दू शायरी में ह्रास है, जिस प्रकार घर-घर में विराजित ब्रज के विरही कविगणों में देखा गया, या पंत, महादेवी की ही नहीं उनके सहगामियों में, जिगर, दिल दर्द, मयखाना की वाह-

वाही में एक तबाही थी, अभी भी है, परन्तु उर्दू शायरी की प्राण-धारा के पीछे एक आह्लाद-भरा तीखापन है, रौंदन है।

"सतरंग पंखोंवाली" नागार्जुन द्वारा रचित पुस्तक इस गुण का एक और रूप जताती है। शब्द बड़े ही अर्थक्षम होते, यों तो सुनने में बड़े मोहक, कानों पर खरोंच न करनेवाले, स्वप्न के बदले सपन, हरीश भादानी के एक संग्रह का नाम ही है 'सपन की गली" (१९६१), परन्तु बोध में खरोंच पैदा करनेवाले। वर्त्तमान कविता खरोंच है। 'जयति नखरंजनी' में नागार्जुन द्वारा पंत की 'आधुनिका' का ही चित्र है। यदि पंत के चित्र में 'सुगम रूज', 'लिपस्टिक', 'बौस्टिक', 'अंगराग' के रंग हैं, 'लहरी-सी तुम चपल, तितली-सी तुम फूल-फूल पर मंडराती' के सीधे प्रहार हैं, तो 'जयति नखरंजनी' के चित्र में भी इसी के सदृश 'तन की चंपई कांति', 'सुर्ख नेलपालिश', 'कपचे हुए सघन नील-कुंतल' के रंग हैं, यद्यपि सीधे प्रहार नहीं हैं, तथापि पंत की प्रेरणा मज़ाक और जज़बात तक ही रह जाती, नागार्जुन की प्रेरणा इसे पार कर चुभन को प्राप्त करती है, केवल तीन परियों के मतदान न देने पर ही नहीं, वरन् राग-विराग की पोल खोल कर। 'जयति नखरंजनी, दृग-अंजनी, भक्त-भ्रम-भंजनी, नवयुग निरंजनी' में प्रेरणा कपची वेदना की प्रेरणा है। इस संग्रह में आये दिन दुहराई कुंठा है, 'रीते मन, छूंछे मन, खाली मन' की झाँकी है, हां, अब तो नई कविता, वर्त्तमान कविता के ये स्वर 'अनहद नाद' सदृश भी हैं, इनके समर्थकों की अधीरता भी जोरों पर है, परन्तु कविता की वह शक्ति भी स्पष्ट है जो इस सदी की ही नहीं बहुत पहले की सदियों में बिठलाती है। शब्द कटे-छंटे, बहुत चिकने, पर 'घाव करे गंभीर।' कहीं-कहीं अंग्रेजी के ऐपिग्राम-सदृश लघु। इसलिए, अब मुक्तक, रुबाइयाँ, गज़ल भी, कभी-

कभी चल चित्रों के गीतों से तुल्य, भवानी प्रसाद मिश्र की 'इल्मी, फिल्मी' तुलना के समीप, परन्तु यह छीलन, शब्दों की, प्रेषण की छीलन होती है।

वर्त्तमान कविता की यह शक्ति शास्त्रीय है, शाश्वत है, संगत है। अज्ञेय की 'अरी, ओ करुणा प्रभामयी' (१९६३), में जापानी शैली की रचनाओं में कोई चकाचौंध नहीं, इसी बोध, इसी प्रवृत्ति का प्रतिफल है। आज राजा न रहे, नहीं तो बहुत-से आधुनिक गीतों में भी प्रति गीत अशर्फी मिल सकती।

आधुनिक कविता, दरअसल वर्त्तमान कविता, चटपटी नहीं बहु-पटी है। इस पट के सृजनकारों के मर्म को समझना ही निष्पक्ष, वाद-विहीन समीक्षा का धर्म है। ये पद्य कंठहार हैं, कुण्ठा के हार नहीं, ये नये शृंगार नहीं, नये उद्गार हैं. शाश्वत भी।

★

२. वर्त्तमान कविता के बोध :

बौद्धिकता के फेरे में एक और भ्रांति आई, कृतित्व और व्यक्तित्व में विरोध, फिर समष्टि और व्यक्ति में विरोध, वैयक्तिकता और निर्वैयक्तिकता के मोह। यह स्वयं रचनाकारों को गुमराह करने लगा। महादेवी के अवसाद की प्रेरणा-भूमि उनके जीवन में ढूंढ़ी गई, पंत की सुकुमार कल्पनाओं में अल्मोड़ा से लेकर उनके प्रत्यक्ष जीवन को बांधा गया, छाया के पीछे दौड़ने वाले कवियों की वेश-भूषा, कुन्तलराशि में काव्यगत प्रतिक्रिया दर्शित हुई, रामचंद्र शुक्ल का कोप उबल पड़ा, द्विवेदी, गुप्त, हरिऔध में समष्टि पर व्यक्ति की बलि देखी गई। परन्तु कोई भी रचनाकार यदि वह ईमानदार है अपने प्रति, अपनी रचनाओं में विद्यमान रहता ही है, जिस प्रकार कोई भी रचनाकार यदि सचेत है, संवेदनशील है, समष्टि उसकी रचनाओं में कलरव करती ही है। 'शेखर : एक जीवनी' में जो अज्ञेय की काया और माया देखी गई, युग की, भारत की काया और माया नहीं, इसी का प्रतिफल है। वर्त्तमान कविता के प्रति भी ऐसी विरोधी प्रतिक्रियाएँ हैं। एक, यह एक ढाँचे में ढली हुई हैं, रूप रंग से ही नहीं अंतरंग से भी; एक की कविता दूसरे की कविता से भिन्न नहीं, अतएव कवि का व्यक्तित्व नहीं। दूसरी, इतनी कुण्ठा है कि यह आस्था से शून्य होती है। दोनों स्थापनाओं के सबूत हैं, इसमें संदेह नहीं।

नई कविता, अंक १, २, ३, ४, ५, प्रकाशन १९५४, ५५, ५६, ५९, जगदीश गुप्त द्वारा संपादित एवं रचित शब्द-दंश, हरी

बाँसुरी—सुनहरी टेर (सुमित्रानंदन पंत), दर्द की मीनार। कृष्णनंदन पीयूष—१९६३, नई प्रतिभाएँ, डा० बेचन द्वारा संपादित, समानान्तर सुनें (शांता सिन्हा—१९५८), चतुर्मुखी (ब्रजकिशोर नारायण—१९६४), जल-तरंग (उपेन्द्र प्रसाद, शंभु प्रसाद—१९६१), अरी ओ करुणा प्रभामय (अज्ञेय—१९५९), कारकी साँझ (रामनरेश पाठक—१९५८), आत्म-बोध (नृपेन्द्रनाथ गुप्त—१९६५), नीरज द्वारा सम्पादित हिन्दी रुबाइयाँ (१९६३), सांप्रतिकी, संपादित डा० वीरेन्द्र श्रीवास्तव (१९६४), उद्गम, सम्पादित रामगोपाल परदेसी (१९६४), गीत-संगम (श्री रञ्जन सूरिदेव—१९५५), बावरा अहेरी (अज्ञेय—१९५४), गीत फरोश (भवानी प्रसाद मिश्र—१९५६) इंद्रधनुष रौंदे हुये (अज्ञेय—१९५७), अनुपस्थित लोग (भारत भूषण अग्रवाल—१९६६), चीन की चुनौती, संपादित क्षेमचंद्र सुमन (१९६२), आधुनिक कविताएँ, रणधीर सिनहा, पद्मनारायण द्वारा संपादित (१९५९), गूँजते स्वर, गर्जना, गीतांकुर, (सभी रामगोपाल परदेसी द्वारा संपादित), नवाञ्जलि (रामगोपाल रुद्र द्वारा संपादित—१९६५), श्रेष्ठ कवयित्रियों की प्रतिनिधि रचनाएँ, (स्नेही द्वारा संपादित—१९६३), दीपाराधना (आनंद शंकर माधवन—१९६४), अनु-क्षण (प्रभाकर माचवे—१९५९), कविताएँ (कीर्ति चौधरी—१९५८), आत्मजयी (कुँवर नारायण—१९६५), सतरंगें पंखोवाली (नागार्जुन—१९५९), गीतांगिनी, राजेन्द्र प्रसाद सिंह द्वारा संपादित (१९५८), ठंडा लोहा (धर्मवीर भारती—१९५२), माध्यम में (शम्भुनाथ सिंह—१९५७), लोकायतन (सुमित्रानंदन पंत—१९६४), उर्वशी (दिनकर—१९६१), परशुराम की प्रतीक्षा (१९६३), गीत-हंसिनी (मदनगोपाल पाण्डेय—प्रकाश्य), प्रेरणा (इन्दु सिन्हा—

प्रकाश्य), आदि तथा अनेक पत्र-पत्रिकाओं की कविताओं, हजार-हजार इन रचनाओं में, उपर्युक्त बातें पाई जाती हैं, परन्तु यह निर्विवाद होना चाहिए कि इन कविताओं में युग-बोध और आत्म-बोध दोनों हैं। समर्थन या खण्डन की बात यह नहीं है, नंददुलारे वाजपेयी की कटुता या सच्चिदानंद वात्स्यायन की स्वागत-तत्परता की बात नहीं है, साहित्य के मूल धर्म की पहचान की बात है, ज्ञान की बात है, समीक्षा के सत्य की बात है।

गजानन मुक्तिबोध के काव्य-संग्रह "चाँद का मुंह टेढ़ा है" में कवि की छवि एक सांकेतिक चित्र द्वारा दी गई है। चाँद का मुंह टेढ़ा है, कवि का मुंह भी टेढ़ा है, व्यक्तीकरण कवि का टेढ़ा, कुण्ठा, अवसाद, पीर की ऐसी तूली फेंकी गई है कि शमशेर बहादुर सिंह के यह कहने पर भी—"उनके भावों के पीछे विचारों का दीर्घ दोहन है", "उनके अंदर मस्तिष्क हीन कोरी भावुकता" नहीं है, "कभी-कभी विशुद्ध-से काव्य-तत्व के साथ विद्रूप का भाव, अतल के गलित गर्त के साथ-साथ उत्तुंग शिखरों के दर्शन, व्यक्ति की निजी हाय और तड़प के साथ उनका राजनैतिक-सामाजिक संघर्ष पाठक को कई स्तरों पर एक साथ उद्वेलित करता है", कवि के दुःख भरे जीवन से प्रसूत कविता का भार अनुभव होता है। शमशेर बहादुर सिंह ने फिर एक वाक्य कहा है—"मुक्तिबोध का वास्तविक मूल्यांकन अगली यानी, अब आगे की पीढ़ी निश्चय ही करेगी, क्योंकि उसकी करुण अनुभूतियों को, उसके व्यर्थता और खोखलेपन को पूरी शक्ति के साथ मुक्तिबोध ने ही अभिव्यक्त किया है।" सारी व्याख्या को दो संयुक्त शब्दों में कहा जा सकता है, कहना चाहिये भी था, आत्मबोध, युगबोध। 'ही' शब्द मुक्तिबोध की अग्रगण्यता के संबंध में प्रयुक्त है। यह व्याख्या मुक्तिबोध के संबंध में ठीक है, परन्तु केवल वर्त्तमान कवियों ने ही ऐसा किया

है, या युगबोध, आत्मबोध का वर्गीकरण शास्त्रीय है, यह गलत है। विदेशी साहित्यों में देखें, बिल्कुल ही स्वच्छंद, आत्मबोध से उद्वेलित अंग्रेजी कविता, उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध की कवितायें युगबोध हैं, गोर्की और टालस्टाय के समष्टिगत उत्पीड़न में मनीषियों के आत्म-पीड़न हैं, रूसो की एक पंक्ति में फ्रांस की जंजीरें झनझना ही नहीं उठीं टूट गईं, आर्य समाज की घनी छांह में द्विवेदी, गुप्त, प्रसाद का सुथरा, सुलझा, संस्कृति-संगत व्यक्तित्व प्रति शब्द में झाँकता रहता है।

आधुनिक कविता भटकी नहीं, युग की अटकी कविता है।

स्वयं की ग्रीवा पर
फेरता हूँ हाथ कि
करता हूँ महसूस—
एकाएक गरदन पर उगी हुई
सघन अयाल और
शब्दों पर उगे हुए बाल तथा
वाक्यों में ओटांग उटाँग के
बढ़े हुए नाखून ॥

और फिर,

दीखती है सहसा
अपनी ही गुच्छेदार मूँछ
जो कि बनती है कविता
अपने ही बड़े-बड़े दांत
जो कि बनते हैं तर्क और
दीखता है प्रत्यक्ष
बौना यह भाल और

झुका हुआ माथा
जाता हूँ चौंक मैं निज से
अपनी ही बालदार रुज से
कपाल की धज से।
और, मैं विद्रूप वेदना से ग्रस्त हो
करता हूँ घर में बन्द
वह सन्दूक
करता हूँ महसूस
हाथ में पिस्तौल बन्दूक !!

मुक्तिबोध का प्रवाह चेतनानुकूल है, यह स्वयं आधुनिक, वर्त्तमान, नई, 'प्रयोगवादी', विपुलनामधारिणी कविता, या साहित्य, कथा तक, की एक देन है। इसमें कविता, तुक, मात्रा, उपमा, उपमेय को तजकर मनोदशा और अंतश्चेतना के अनुरूप आती है; यह नहीं कि इसमें तुक नहीं है, 'अयाल', 'भाल', 'चाल', 'कपाल', 'संदूक', 'बन्दूक'; इसमें लय भी है, परन्तु मनोदशा के अनरूप, 'बन्दूक' के बोल पर एक उठती गिरती चेतना को धमाका लगता है; शब्द सजे-धजे हैं, परन्तु सचित्र। इनके अतिरिक्त युग है, मुक्तिबोध हैं। सम्पूर्ण काव्य-संग्रह में 'कुहरा' का सतत् प्रयोग मननीय है। 'चाँद का मुंह टेढ़ा' नामक पद्य में आरोपन व्यक्तिगत और समष्टिगत दोनों है।

विवेक की हमजोली ही है व्यंग्य, तर्क, संवेदना, ऊटपटांग, ये काव्य के विरोधी तत्त्व नहीं हैं, अनुरोधी तत्त्व हैं। गहरा हुआ तो विवेक, उभरा तो व्यंग्य, उखरा तो ऊटपटांग, संवरा तो संवेदना, कार्टून, 'सटायर', सब कुछ। हिन्दी कविता में यह 'मस्तिष्क विहीन भावुकता के अभाव के रूप में' प्रकट नहीं है, एक प्रभाव के रूप में उत्कट है।

झुका हुआ माथा
जाता हूँ चौंक मैं निज से
अपनी ही बालदार रुज से
कपाल की धज से।
और, मैं विद्रूप वेदना से ग्रस्त हो
करता हूँ घर में बन्द
वह सन्दूक
करता हूँ महसूस
हाथ में पिस्तौल बन्दूक !!

मुक्तिबोध का प्रवाह चेतनानुकूल है, यह स्वयं आधुनिक, वर्त्तमान, नई, 'प्रयोगवादी', विपुलनामधारिणी कविता, या साहित्य, कथा तक, की एक देन है। इसमें कविता, तुक, मात्रा, उपमा, उपमेय को तजकर मनोदशा और अंतश्चेतना के अनुरूप आती है; यह नहीं कि इसमें तुक नहीं है, 'अयाल', 'भाल', 'चाल', 'कपाल', 'संदूक', 'बन्दूक'; इसमें लय भी है, परन्तु मनोदशा के अनरूप, 'बन्दूक' के बोल पर एक उठती गिरती चेतना को धमाका लगता है; शब्द सजे-धजे हैं, परन्तु सचित्र। इनके अतिरिक्त युग है, मुक्तिबोध हैं। सम्पूर्ण काव्य-संग्रह में 'कुहरा' का सतत् प्रयोग मननीय है। 'चाँद का मुंह टेढ़ा' नामक पद्य में आरोपन व्यक्तिगत और समष्टिगत दोनों है।

विवेक की हमजोली ही है व्यंग्य, तर्क, संवेदना, ऊटपटांग, ये काव्य के विरोधी तत्त्व नहीं हैं, अनुरोधी तत्त्व हैं। गहरा हुआ तो विवेक, उभरा तो व्यंग्य, उखरा तो ऊटपटांग, संवरा तो संवेदना, कार्टून, 'सटायर', सब कुछ। हिन्दी कविता में यह 'मस्तिष्क विहीन भावुकता के अभाव के रूप में' प्रकट नहीं है, एक प्रभाव के रूप में उत्कट है।

"कोयला और कवित्व", दिनकर की काव्य-कृति, कवि को स्वयं अच्छी लगती है, 'कितबसी' उर्वशी को बसानेवाला कवि, विपथगा की झनकार उतारनेवाला कवि, उस कवि को कला के विभिन्न पहलू अकुलाते, कला के दर्शन लेखनी में ही नहीं, हल की नोकों, कुदाल, ट्रेक्टरों, करघों की घर्घर, श्रम, फलक, विपण्ण चित्र, आभिजात्य के रोग में होते हैं और अंत में एक सर्वव्याप्ति दीख पड़ती है। "आत्मा की आँखों में" दिनकर की प्रबुद्धता, लॉरेंस के पद्यों के अनुवाद, भावानुवाद ही क्यों न हों, स्पष्ट है।

"चतुर्मुखी" ब्रजकिशोर नारायण की सितम्बर, १९६४ में प्रकाशित हुई। इसके चार स्तम्भों में हिन्दी कविता की वर्त्तमान रवानी के चिन्ह हैं : नमकीन, मधुर, तीखे, अनचखे। इन 'चार प्रकार की रचनाएँ' कवि की 'चार प्रकृतियों और प्रवृत्तियों की तस्वीरें हैं', उनके ही अनुसार, पर इन प्रकृतियों और प्रवृत्तियों में व्यंग्य, वक्रोक्ति, कुछ ऊटपटांग भी इत्यादि के द्वारा विवेक का पुट वर्त्तमान काव्यानुकूल है। शुरू के शेर, बाद की रुबाइयों में वाद, संलाप और तर्क हैं, अनुभूति—एक पद्य का शीर्षक ही है 'अनुभूतियाँ'—की गहनता है। 'मानवता आगे बढ़े, चरण चढ़े चाँद पर, चुनाव ऐसा न हो कि जनता गायब हो जाय।' कहीं-कहीं, उदाहरणतः आत्मिक आग्रह, मधुमास, कवियों से, अनेक प्रश्न : एक उत्तर, में वर्त्तमान कविता की लयबन्दी भर है, तथापि इस संग्रह में ब्रजकिशोर नारायण की स्पर्शिनी शक्ति प्रकट है। बोल युगीन हैं, इसकी धारा भी, इसमें संदेह नहीं।

आधुनिक कविता के रूप-रंग की ही नहीं अंतरंग की फैलती हुई छाया या लम्बी छाँह अमिट है, बुजुर्गों पर; निराला, अज्ञेय, भवानी प्रसाद मिश्र, मुक्तिबोध, जगदीश गुप्त, नागार्जुन, भारत भूषण अग्रवाल, के 'अंदाज' और 'बयाँ' में बुजुर्ग बह गये हैं,

कहीं-कहीं स्वांग रच कर भी, लोकप्रियता का बाना पहन कर, 'रोम' में रह कर 'रोमन' बनने की अचूक कहावत को मानो स्वीकार कर, परन्तु उर्दू शायरी के मर्म, काव्य के विवेक गुण को अपना कर, बोध को सक्षम कर, जीवित शब्दों और अर्थक्षम, चित्रक्षम प्रतीकों को, बिना किसी परिधि में उलझा कर और इन्हें घर में बिठलाकर ही।

रौंदन, खरोंच, कपची वेदना, चिकने शब्द, बोलते शब्द, यही हिन्दी कविता की चिर अपेक्षित, बहु अपेक्षित शक्ति, बेजार भी, आज हमारी उपलब्धि है।

*

३. विधान : आडम्बर : स्वर

वर्त्तमान कविता का मुख्य विधान न मात्रिक, न वर्णिक रहा है। यह शाब्दिक रहा है। उत्पत्ति की दृष्टि से हिन्दी में सन् १९१६ ई० में 'जूही की कली' में इसका अनादरित प्रादुर्भाव हुआ था; तुकान्त से अतुकान्त और इससे भी मुक्त। तुक, वर्ण, मात्रा का, कई सदियों का, राग जाता रहा। बीसवीं सदी मुक्ति की सदी है, राजतंत्र ही ढीले नहीं हुये, अर्थ, समाज के यंत्र ही नहीं कायाकल्पित हुये वरन् साहित्य के भी यंत्र बंधनों से निकले। तुक तो मनुष्य प्राग् ऐतिहासिक काल में ही तज चुका था, अब इसने छंद अर्थात् वर्ण, मात्रा को भी तज दिया।

इसलिये, मुक्त रूपों में कविता आई। खुल कर अभिनंदन हुआ। छन्द गये, पर कविता स्वच्छंद हुई। परन्तु स्वच्छंदता अनुशासनहीनता नहीं; दैनिक, वैयक्तिक, सामाजिक, या राजनीतिक जीवन हों, स्वच्छंदता इकाई के स्थापन, निर्वाह में दीख पड़ती है, परन्तु इस इकाई की भी एक मान्यता होती है। स्वच्छंदता, उच्छृंखलता साथ नहीं चल सकती हैं। अतएव, वर्त्तमान कविता में भी हम समीक्षकों के लिये जरूरी है कि इसकी प्रवृत्ति मूलतः सही रहती है या नहीं या इतनी उच्छृंखल हो जाती है कि अराजकता और ह्रास आ धमकें, इसकी तजबीज करते रहें।

१९६०–६१ की सम्पादित 'नई कविता' के १४४ पृष्ठों के गद्य को छोड़ें, इसके ११४ पृष्ठों में संकलित, बड़े श्रम से, तनिक भी संदेह नहीं, रचनाओं के विधान का ध्यान करने से नयी चेतना फूटी है नये स्वरों में या रूपों में यह बात स्पष्ट होती है। ४४ कवि-

कवयित्रियों के चुने मुक्ता हैं। अधिकांशतः काले कुन्तलधारी रचनाकार ही हैं, एक दो वरीय। हमदर्दी सर्वत्र स्पष्ट है। प्रत्येक रचयिता के साथ घोषणा-पत्र है। इस संकलन को प्रयोगशाला यदि समझें, तो इसमें कोई समीक्षक परीक्षण कर सकता है।

चार स्तम्भों : इस नगरी में रात हुई, तुम चमको मद्धिम चाँद, अंतरंग चेहरे की खोज, छाये सन्नाटे का एक क्षण : में सभी रचनाएँ बाँट दी गई हैं। अनुभूति, विषय को प्रधानता दी गई है। यह परम्परागत ही है।

१४४ पृष्ठों से भी अधिक व्याख्या की चिंता को दो में एक सम्पादक ने 'एक छोटी सी बेसब्री' नामक रचना में व्यक्त किया है :

आज हमने फिर किया है शब्द का आखेट :
मत हमें देना पुराना शाप।
कब तलक यह पूर्वजों से मिली प्रतिहिंसा
कब तलक, अन्धे तपस्वी कब तलक,
अजन्मी पीढ़ियों यह ?
कब तलक नतशीश कन्धों पर चढ़ा यह तीर्थ-संयम ?
कब तलक यह हर नयी आवाज का वनवास ?

पूर्व पीढ़ियों के प्रति यह बेसब्री, अनादर से उत्पन्न अनादर मानवीय सत्य है, दुर्बलता भी। द्विवेदी, रामचंद्र शुक्ल से पंत, निराला को लड़ना पड़ा था; नंददुलारे वाजपेयी से अज्ञेय को। इसलिये, विजयदेव नारायण साही के स्वर नैसर्गिक हैं। परन्तु दूसरी रचना, इसके बाद ही दी गई और इसी पर एक स्तम्भ का नामकरण भी हुआ है, 'इस नगरी में रात हुई' :

धीरे-धीरे धुआँ शाम का फैल गया, खामोशी है,
आओ खुसरो लौट चलें घर, इस नगरी में रात हुई,—

प्रचलित युगीन दृष्टि को दिग्दर्शित कर देती है। फिर श्रीराम वर्मा की तीन रचनाएँ 'विष्णुकान्ता', 'कच्चे पपीते' 'उजली सांझ : झरना' तीनों सिर्फ २५ शब्दों में ही पूरी, वर्त्तमान कविता के विकसित होते हुए विधान की बानगी हैं।

कच्चे पपीते
रीढ़ से लिपटे हुए शिशु
और चेहरे हरे !

गिरिजा कुमार माथुर की 'चांदनी बिखरी हुई' में चाँद से प्रेरित अनेक भाव, ग्यारह, भी टुकड़ों में व्यक्त होते हैं।

चाँद ललित उगकर
उजला हुआ
कामिनी उबटन लगा
आई नहा

या

दूध के बुरादे-सी
मेह-दुही चाँदनी
बासमती चावल की
देह हुई चांदनी

और अन्त में :

फिर मिलेगी कब दही-सी चाँदनी
दूध, नैनू, घी, मही-सी चाँदनी

अथवा जगदीश गुप्त, श्री हरि, मलयज, अजित कुमार, श्रीराम वर्मा, जितेन्द्रनाथ पाठक, राजनारायण बिसारिया, श्यामसुन्दर घोष, दूधनाथ सिंह, अशोक वाजपेयी, प्रभाकर मिश्र, अजितकुमार अग्रवाल, हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं के चिर-परिचित रचयिताओं के 'मद्धिम चांद' अन्तर्गत पद्यों में चांद के मन-भावन

अंकन ही नहीं, मानवीय भावनाओं पर चाँद के प्रभाव भी हैं। एक दूसरी जगह इन्हीं कवियों के समकक्ष ने चाँद के चेहरे में न चंपा की छवि न अपनी प्रेयसी की छवि देखी, वरन् "ऐनिमिक" कह कर समाज, विश्व, आज के मानव के "ऐनिमिक" रूप की झाँकी देखी। यह सच है, चाँद ज्वार-जनक ही नहीं रहा है, मनुष्य, विशेष कर कवि, का भाव-प्रेरक भी रहा है। परन्तु वर्त्तमान कविता को इस पर गर्व नहीं करना है, प्रकृति में मानवीय आरोपन बहुत पुराना है, फिर भी काव्य के लघु आकारों में केन्द्रीभूत, 'घनीभूत' पीड़ा के प्रकटीकरण जो हैं वे अवश्य ही वर्त्तमान कविता के अपने शिल्प हैं, विधान हैं। चांदनी की स्निग्धता ही नहीं है, 'मेह-दुही चाँदनी' 'दूध-के-बुरादे सी' चाँदनी ही नहीं है, या शाब्दिक मुलायमियत ही नहीं है, परन्तु संवेदना है। संवेदना विवेक और इसलिये काव्य की प्रधान सहचरी है।

मुक्त छन्दों में स्वच्छंद वर्त्तमान कविता के भी अनुशासन हैं। ये इतने ही कठोर हैं, जितने तुक और वर्ण या मात्रा के बंधन होते हैं। ये अनुशासन हैं : लय, संगीत की लय नहीं, अन्तर्मनन की लय और अनुकूल वातावरण का ध्वनिकरण। इन दो तथ्यों को कविता तज नहीं सकती है। जिस प्रकार भूषण ने 'इन्द्र जिमि जंभ पर, दावा द्रुम झुंड पर' शिवराज की मूर्ति गढ़ी थी, अक्षर, तुक के पुनरावर्त्तनों से, गति की प्रगति से, उसी प्रकार सच्ची, प्रतिनिधि वर्त्तमान कविता लय और अनुकूल समा के सृजन से प्रेषण में सक्षम होती है। बीसवीं सदी चिंतन की सदी भी है। यह चिंतन अस्तित्व का ही रहा है और सर्वोपरि है। यह चिंतन वर्त्तमान कविताओं में सर्वत्र व्याप्त रहता है, प्रकृति की कोरी चित्रावली में भी इस अंतरंग को देखा जा सकता है। इसलिए, वर्त्तमान कविताओं में चिंतन के अनुरूप मर्मर होते हैं। अतः,

कविताओं के पाद समानान्तर नहीं रहते, रेखागणित की उलझनों के अनुरूप होते हैं।

ये तीन रचनाएँ, संयोगतः ये तीनों कवयित्रिओं की ही हैं, आज के चिंतन-जन्य मर्मर हैं।

उमड़ी नदी। डूबा किनारा
भँवर में
डू
ब
ती
नाव - सी आँखें
हाय,
सिहर गया शुक्रतारा।

(शीर्षक : 'बाढ़' — निर्मला वर्मा)

देखो
मुझे और पास से देखो
कला की नजर से नहीं
आओ
कदाचित्
तुम्हारे स्पर्श से
मैं प्राणमयी हो जाऊँ
गीत और वाद्य से भरी
पाषाणी नहीं
पद्मिनी !

(शीर्षक : 'अजन्ता नारी का निमंत्रण'—शान्ता सिनहा।)

सामने मेरे सामने
एक पेड़ है

मोटा अति मोटा
लदा हुआ पत्तों से
अपनी मोटाई से आप ही
वह सुस्त है !
और ढँका है मोटापन जिसका
एक नए क्रीपर से
नाम है मनी प्लांट !
हाथी के कान सा बड़ा-बड़ा पत्ता
आतंक है पौधों में,
हरी-हरी घास में !
भीतर अति खोखला
भीतर ही भीतर है
भादों की वृष्टि से धराशायी हो
गाछ ढह जायगा
लुप्त होगी सत्ता !

(शीर्षक : सामने की सत्ता—इन्दु सिन्हा)

वर्त्तमान से बंधी रहने पर भी तीनों रचनाएँ स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होती हैं। बाढ़, अजन्ता-नारी, एक विशाल वृक्ष, ये तीन विषय सतह पर हैं, इनके अंदर, नारियल के कठोर आवृत को यदि फोड़कर देखें, अनगिनत, अपरिमित भाव-प्रवाह मिलते हैं, जैसी रुचि वैसे अर्थ आप लगायें : 'नाव-सी आँख' अर्थात् एक नारी के नयन की बाढ़ नाव-सी या स्थूलतः बाढ़ में सजल आँख-सी डूबती नाव; 'तुम्हारे स्पर्श से मैं प्राणमयी हो जाऊँ' में अहिल्या की प्रस्तर-मूर्ति को 'प्राणमयी' कर देनेवाली श्रीराम-शक्ति की झाँकी, नारी की उपेक्षा, मनोरंजन-प्रतिमा भर देखने की सच्ची बात, युग-युग की ऐतिहासिक बात; मोटे पेड़ से हरी घास

में आतंक होना प्राकृतिक सत्य है, वृष्टि से पेड़ ढह जायेगा, उसका अस्तित्व विलीन हो जायेगा, यह संभव है या समाज, देश, विदेश में विशाल, भीमकाय रूपों से छोटी हस्तियाँ पनप नहीं पातीं या फिर वर्षा, झंझा, या प्लावन की तरह उठे विद्रोह से इनका अस्तित्व मिट जायेगा, जाता है, इस ऐतिहासिक, सामाजिक या राजनीतिक स्थापना की आत्मा ही इसमें है, यह बात सीमित नहीं की जा सकती। वर्त्तमान कविता में अर्थ की परिधियाँ नहीं होतीं। यह भी काव्य का एक शाश्वत धर्म है। गोपनीयता काव्य में खूब फबती, अन्य विधाओं में नहीं। कभी-कभी वर्त्तमान कविताएँ दुरूह रहतीं, भाषा की जटिलता के कारण नहीं, जो जटिलता हरिऔध के महाकाव्य में या कभी कभी निराला में दीख पड़ी थी, वरन् भाव की जटिलता के कारण ही।

शमशेर बहादुर सिंह की निम्नांकित दो कविताओं में चिंतन तथा उलझन कवयित्रियों की रचनाओं के सदृश प्रथम पठन में बोधगम्य नहीं हैं, यद्यपि क्रम, लय, शब्द की मुलायमियत में पूरा साम्य है :

लौट आ, ओ घाट
टूट मत साँझ के पत्थर
हृदय पर
(मैं समय की एक लम्बी आह
मौन लम्बी आह)
लौट आओ फूल की पंखड़ी
फिर
फूल में लग जा
चूमता है धूल का फूल
कोय हाय

(शीर्षक : लौट आ, ओ घाट)

सींग और नाखून।
लोह के बख्तर कंधों पर!
सीने में सूराख हड्डी का
आँखों में घास-काई की नमी।
एक मुर्दा हाथ
पाँव पर टिका
उल्टी कलम थामे।
तीन तसलों में कमर का घाव सड़ चुका है।
जड़ों का भी कड़ा जाल
हो चुका पत्थर।

(शीर्षक : सींग और नाखून)

या तरुण कवि सच्चिदानंद सिन्हा की, माध्यम—१९६३ में प्रकाशित कविता :

हर दिन

मेरा बढ़ा हुआ नाखून है
इससे जीवन को नोचता हूँ
इस गैंडे को कुछ होता नहीं,
उस गैंडे को अपनी उंगली पर
नाचती शिशु की मुस्कान को
दिखा कर मैं कहता हूँ—
देख फिर खरोचूँगा,
यह आग है या फूल है
इससे बहस कोई नहीं—
मैं इसी से फिर नोचूँगा तुम्हें
क्योंकि नाखून फिर उग आयगा।

(शीर्षक : एक कविता)

फिर भी, मनन, चिंतन ध्वनित हो उठते हैं, उलझन से स्पंदन होता है। 'लौट आओ घाट' में मानवीय याचना है, युगीन, चिरकालीन दोनों। 'सींग और नाखून' या 'एक कविता' में सिर्फ अधुनातन प्रतीक ही नहीं हैं वरन् अधुनातन कुण्ठा है। इस कुण्ठा, अनास्था पर हिन्दी-समीक्षा में बहुत गरम-गरम बहस हुई है। कवियों में घबराहट, समीक्षकों या पाठकों में अकुलाहट। परंतु इन दोनों प्रतिक्रियाओं की जरूरत नहीं थी, न है। यह कुण्ठा, सन् १९४५ ई० के बाद की पीढ़ी, की पहचान है। अनिश्चितता सर्वत्र रही है, इसलिए अस्तित्व के ही चिंतन से बहुत सी कविताएँ उपजी हैं। 'गंदी नाली के कीड़े' सदृश 'सींग और नाखून' प्रतीकों के प्रयोग वर्त्तमान कविता में खूब हुए हैं। युग किसी भी व्याख्यात्मक बोल को सीने से चिपका लेता है, जैसे तुलसीदास के युग में 'मंझधार, खेवनहार, भवसागर'; भारत के स्वातंत्र्य-संग्राम में 'ज्वाला, झंझा', पंत के युग में 'कौन'। एक ही तार पर अनेक झंकार बज उठतीं। 'सींग और नाखून' भयावह ही नहीं भावक्षम भी हैं, कार्टून में, चित्रों में, काव्य में इसलिए यह प्रत्यक्ष रहा।

आकार, क्रम अर्थात् लघु वृत्त, रेखा-क्रम से वर्त्तमान कविता के प्रतीक-क्रम की समीक्षा जरूरी है। नये-नये प्रतीकों में व्याख्या नई लगती है। किस प्रतीक को समाज, कवियों का या पाठकों का समाज सीने से चिपका लेगा, यह तुरंत कहा नहीं जा सकता है। या पुराना प्रतीक ही अपनाया रह जायेगा, यह भी कहा नहीं जा सकता है। अज्ञेय की रचना "साँप नगर में; डंसना कहाँ सीखा" या बालकृष्ण राव के "मणिधर", जो लम्बी रचना है, में प्रतीक हजार वर्षों पुराना है, फिर भी नवीन भावों को, नवीन चिंतन को पूर्णतः व्यक्त कर देता है। जगदीश गुप्त ने एक संग्रह का नाम ही "शब्द-दंश" इसी प्रतीक से लिया है। इसलिए, प्रतीक-क्रम की

चित्रात्मकता-निधि संभल कर संजोनी पड़ती है। कवियों और समीक्षकों दोनों के लिये एक ही दायित्व है। यहीं आडम्बर, ढोंग, ह्रास की बात आ जाती है।

वर्त्तमान कविता में आडम्बर हैं, प्रत्येक दिशा में, रेखाक्रम, लघु वृत्त, प्रतीक-शृंखला, भाषा में। यह अवश्य ही चिंताजनक है। यह ह्रास का आभास है। यह प्रगति का अवरोध है। यही कुण्ठा की कुण्ठा है। यह उलझन की उलझन है। परन्तु यह भी घटना साहित्य-सुलभ, परम्परागत ही है, दुर्लभ नहीं। आदि से अभी तक कभी-कभी एक लकीर के फकीर रचयिता रहे हैं। जिसने उस लकीर को प्रथम खींचा, वही स्रष्टा हुआ, प्रवर्त्तक; जिसने इस लकीर पर मर्म समझ कर प्रगति की, उसमें नव चेतन लाया, वे उन्नायक हुये और जो उस लकीर पर निर्विरोध, सुगमतः, दौड़ गये, वे अनुकारी हुये।

भारतभूषण अग्रवाल का कविता-संग्रह "अनुपस्थित लोग" (जनवरी, १९६५) कई कारणों से महत्वपूर्ण है। प्रथम, भारत-भूषण अग्रवाल आधुनिक कविता, वर्त्तमान कविता के प्रतिनिधि हैं, अच्छे प्रतिनिधि। दूसरे, यह कृति बिल्कुल ही अधुनातन है। तीसरे, वर्त्तमान कविता की काया और माया पूर्णतः लक्षित है। ३८ कविताओं का यह संग्रह है। "मैं, और मेरा पिट्ठू" में अस्तित्व का चिंतन, विवेक गुण स्पष्ट है, अब परिचित चिकने शब्द पर खरोंच-क्रम भी हैं, प्रतीक, सज्ञा नये उपकरणों से पूर्ण है, क्रम लय के अनुकूल है, बोल टकसाल हैं।

देह से अकेला होकर भी—
मैं दो हूँ,
मेरे पेट में पिट्ठू है।
जब मैं दफ्तर में

साहब की घण्टी पर उठता बैठता रहता हूँ
मेरा पिट्ठू
नदी किनारे बंशी बजाता रहता है !
जब मेरी 'नोटिंग' कुह-कुह कर
'टि-टाइम' होती है,
तब साप्ताहिक के मुख-पृष्ठ पर
मेरे पिट्ठू की तस्वीर छपती है।
शाम को जब मैं
बस के फुटबोर्ड पर टँगा-टँगा घर आता हूँ
तब मेरा पिट्ठू—
चाँदनी को बाँहों में बाँह डाले
मुग़ल गार्डेन्स में टहलता रहता है !
और जब मैं
बच्चे को दवा के लिए
'आउट-डोर-वार्ड' की क्यू में खड़ा रहता हूँ
तब मेरा पिट्ठू
कवि-सम्मेलन के मंच पर पुष्प मालाएँ पहनता है,
इन सरगर्मियों से तंग आकर
मैं अपने पिट्ठू से कहता हूँ;
भई, यह ठीक नहीं
एक म्यान में दो तलवारें नहीं रहतीं,
तो मेरा पिट्ठू हँसकर कहता है :
पर एक जेब में दो कलमें तो सभी रखते हैं !
एक दीखनेवाली मेरी इस देह में
दो 'मैं' हैं।
एक मैं

और एक मेरा पिट्ठू ।
मैं तो, खैर, मामूली-सा कलर्क हूँ
पर, मेरा पिट्ठू ?
वह जीनियस है !

इस कविता में व्यंग्य है, मनुष्य के अपने दो मुहाँ रूप पर, यह विरोधाभास आज के युग में बली है, 'नोटिंग', 'टि-टाइम', 'फुट बोर्ड पर-टँगा-टँगा' 'क्यू' में आधुनिक जीवन-यापन है, 'भई,' 'खैर', "जीनियस" प्रतिदिन के रोजमर्रे हैं परन्तु आत्मानुभूति बिल्कुल ही मौलिक है, प्राणमयी इसलिये। "अनुपस्थित लोग" में भी यही खाका है, यही-व्यंग्य है; एक 'रेस्त्राँ' में बैठे असंख्य लोग प्रत्यक्ष हैं परन्तु मन से अनुपस्थित हैं, ध्यान इनके कहीं और लगे हैं। अंतिम रचना "बोलता हूँ" में भारत-भूषण अग्रवाल ही नहीं बोल रहे हैं, आज के सभी कवि बोल उठते हैं, अनादर-जन्य कुंठा, स्व की ममता, अस्तित्व की चिंता एक व्यक्ति की ही नहीं, सबों की है।

बोलता हूँ !
खोलता हूँ
मुट्ठी यह
जिसमें था बन्द एक अवकाश
खोखले अहम् का,
स्नायुओं का वह तनाव
जिसको मैं शक्ति समझ बैठा था
पर जो मुझे
खाता ही रहा है प्रत्येक पल,
कोमल अँगुलियों का
उद्धत स्वरूप यह

जिसे तुम चुनौती मान बैठे थे
किसी सिरफिरे द्रोही की
खोलता हूँ
बोलता हूँ
कब तक यह सोचूँगा कि मेरा स्वर हीन है
जानता हूँ, शून्य नहीं शून्य है अविभाज्य
उसमें समाई हैं कितनी बेहोश ध्वनि-राशियाँ
स्वर के छिड़काव से जो सींचित होंगी
और कहारों की भाँति उसे
गूँज की पालकी में बिठाकर दिशाओं की यात्रा करायेंगी,
बोलता हूँ !

अनास्था से आस्था की झलक शक्ति लाती है परन्तु इस अंतिम रचना में भारतभूषण अग्रवाल की ही नहीं वरन् वर्त्तमान कवियों की सीमाएँ स्पष्ट हो जाती हैं। यह वाक्-चातुर्य है और वाक्-चातुर्थ काव्य अपने में नहीं होता। यह स्वर बहुत पहले भी आ चुका है, विजयदेव नारायण साही कृत "इस नगरी में रात हुई" में ही यह स्पष्ट है। कोरे गद्य की पंक्तियों के क्रम से नई कविता नहीं बन जाती है। यही कारण है कि फिलहाल जो पुराने कविगण नये विधान में अपने को व्यक्त कर रहे हैं, वे चिंतन एवं आत्म-मनन को मुखरित नहीं कर पा रहे हैं। दिनकर की "वर्त्तमान" कविताएँ या बच्चन की "सिसिफ्कस वर्क्स हनुमान" में आधुनिकता का बाना है, परन्तु इसके स्वर नहीं। यही कारण है कि भारत-भूषण अग्रवाल जैसे मंजे कवि, इस शैली के मंजे कवि, भी अब समर्थ नहीं हो रहे हैं। बात की बात कविता नहीं होती। तीन पंक्तियों में अनुभूति को समेट कर कुछ पहले कवियों ने भले ही काव्यात्मक प्रेषण हासिल कर लिया, परन्तु निम्नांकित पंक्तियों में :

कनाट प्लेस

गाड़ियों की घरघराहट
साड़ियों की सरसराहट
नाड़ियों की हरहराहट
या एक ख्याल : सिगरेट के बहाने से
माचिस की तीली में
जैसे आग बन्द है
वैसे ही मन में तुम्हारा प्यार !
—अब जब तुम मिलोगे
तो मैं जल नहीं उठूँगा,
मजे से सिगरेट पियूँगा,
और तीली को
फूँक मार
बूट से कुचल दूँगा !

यह एक मनोदशा का ध्वनिकरण है अवश्य, परन्तु उस ध्वनि में निष्कपटता नहीं, एक आडम्बर है। यह सत्य है, कोई भी आडम्बर, शाब्दिक, प्रतीकात्मक, क्रमिक, निश्चल न होने के कारण सबल नहीं होता है। वर्त्तमान कविता काम कर चुकी, मनुष्य को अभिव्यक्ति के नये स्वर ढूंढ़ने होंगे।

भाषा के संबंध में वर्त्तमान कविता की देन क्या है ? शब्द चिकने हुए हैं, कवि की नैसर्गिक सर्जनात्मक शक्ति के अनुरूप, स्वप्न के बदले सपन, सपना भी नहीं, ऐसे शब्द जो असुंदर या अशिष्ट थे, 'टटके', 'खैर', 'भई' उनके आविर्भाव हुये, चूँकि मात्रा का सवाल नहीं रहा, इसलिये मात्रा की गणना की सुविधा के लिये ऐसा किया गया, यह नहीं कहा जा सकता, वह बात जो तुलसीदास इत्यादि ने की या इस सदी में भी कवियों ने की है,

'अमृत' को 'अमरित' लिखा, या वह बात जो हर कुशल कवि करता है, शब्दों को काटता है, छाँटता है, तोड़-मोड़ देता है, शेक्सपियर ने जो की, संज्ञा को क्रिया, क्रिया को संज्ञा, उस बात की बिसात वर्त्तमान कविता में हुई है।

भूख तो शैतान होती है,
भूख बेईमान होती है,
और – भूख के लिये तो सिर्फ,
रोटी ही भगवान होती है।

—'हंसिनी याद की' शीर्षक संग्रह, हरीश भादानी

इसमें हिन्दी के कितने शब्द हैं? तत्सम कितने हैं? या चार पंक्तियों में पूर्ण यह कविता, रुबाई, मुक्तक, चौपाई, चौपादी, जो कहें, वर्तमान कविता की बानगी है जिसमें दर्द, व्यंग्य, टीस, वक्रोक्ति, चमत्कार, सब कुछ है। अंतिम पंक्ति पराकाष्ठा है। भाव कोई विलक्षण नहीं है, रोटी के लिये इन्सान क्या क्या न करता आया है, रोटी से मनुष्य की बोटी बची है और नोचाई भी है, परंतु युगीन आकार, प्रचलित वृत्त या उर्दू-दाँ शैली या जिन्दादिल तराने में भाव धम से आ पड़ता है। भाषा में वर्त्तमान कविता की यह देन है। यह देन तकनकी और शाब्दिक दोनों है।

बालकृष्ण राव की रचना 'नदी का रास्ता' देखें :

नदी का रास्ता किसने दिखाया?
सिखाया था उसे किसने
कि अपनी भावना के वेग को
उन्मुक्त बहने दे?
कि वह अपने लिये
खुद खोज लेगी

सिन्धु की गम्भीरता
स्वच्छन्द बह कर ?

इसे गद्य में बिना किसी जोड़ के पढ़ें :

"किसने नदी का रास्ता दिखाया ? उसे किसने सिखाया था कि अपनी भावना के वेग को उन्मुक्त बहने दे ? कि वह अपने लिये, स्वच्छन्द बह कर, सिन्धु की गम्भीरता खोज लेगी ?"

एक शब्द भी नहीं जुड़े या जरूरत थी ही नहीं। पर अंतर आ पड़ा। गद्य में बहकर कविता अपने भाव को अक्षुण्ण रख सकी परन्तु चिंतन, मनन के वेग को खो चुकी। वेग-जन्य लय भी गायब हो गई। अनुभूति की तीव्रता कम हो गई। उस तीव्रता को पद्य का गद्य-रूपान्तर नहीं उतार सकता, हाँ, स्वतंत्र लिखे गये गद्य में तीव्रता उतारी जा सकती है। यह कोई भी आजमा सकता है। शब्द, तुक, मात्रा, वर्ण के बंधनों से बरी होकर कविता अपने स्वत्व को रख सकती है वह बालकृष्ण राव की रचना, अन्य रचानायें "मणिधर" या "कविता", बतलाती हैं। वर्त्तमान कविता गद्य के समीप ही नहीं गद्य से भिन्न भी नहीं होती। यह इसकी बहुत बड़ी उपलब्धि है, गद्य और पद्य के कृत्रिम भेद के नाश की ओर उन्मुख।

कवयित्री रमा सिंह की एक रचना नई कविता, वर्त्तमान कविता के एक स्वरूप, आशाप्रद पक्ष की अवतारणा है। शीर्षक है 'इन्द्रधनुष'। यह तथ्य काव्य में खूब चर्चित रहा। प्रौढ़, सफल, सच्चे काव्य का गुण होता है सिर्फ टकसाल शब्दों का प्रयोग ही नहीं, वरन् एकसूत्रित गठन। जिस प्रकार कबीर की 'भोनी चदरिया" वाली पदावली में ताने-बाने रूपक से ही मनुष्य की सारी भाव-तरंगें कस दी जाती हैं, उसी प्रकार वर्त्तमान कविताओं में भी बहुधा, सदैव नहीं, एक सूत्रित रूपक प्रयुक्त हुए हैं। यही

बात रमासिंह की 'इन्द्र धनुष' नामक रचना के साथ लागू है।

मन में उग आयी लो।
रंग-भरी रेखा एक टेढ़ी-सी—
जिसको हम इन्द्रधनुष कहते हैं।

उमड़-घुमड़ कर अभी—
बादल ये बरसे हैं,
महक उठी धरती
और फूल-पत्ती-पौधे
सब सरसे हैं।

जीवन में इसी तरह
दुःख की घटाओं का अंधेरा है,
इसके भी पीछे शायद
रंगों का घेरा है।

एक इसी आशा के तर्क पर
दुःख और दाह हम सहते हैं,
जीवन में इसी आकर्षण को।
इन्द्रधनुष कहते हैं!

साफ-साफ तरीके से बात कह दी गई; काव्य की चिर-परिचित गोपनीय पद्धति से भी नहीं। 'इसी तरह'। ये दो शब्द गद्य-शैली की तरह आये हैं। निष्कपटता है, जो स्वयं काव्य की बहुत बड़ी निधि होती, परन्तु जो बहुत कम दीख पड़ती है। इस रचना में नई या वर्त्तमान कविता के ह्रास का भी नाश दीख पड़ता है। अभिव्यक्ति के चरण बढ़े हैं। कविता गीतोन्मुख हुई है!

★

४. ये गीत नवांकुर हैं :

गीत काव्य की एक लोकप्रिय, प्रतिष्ठित, और सबसे बड़ी बात यह कि काव्यमय, संगीत-क्षम, समुन्नत इकाई है। विद्यापति, कबीर, तुलसीदास, रसखान, देव, गंग, महादेवी, पंत, नेपाली, निराला, प्रसाद की बहुत-सी कृतियाँ इसी रूप में आईं और कंठ-स्वर बन गईं। 'रामचरित मानस' से 'विनय पत्रिका' को उत्कृष्ट काव्य इसी कारण समझा तथा माना गया। निराला की 'वीणा-वादिनी वर दे' वंदना में क्या है? कोई 'शाब्दिक चमत्कार' नहीं है, नगेन्द्र-स्थापित अलंकरण भी नहीं है, परन्तु यह हिन्दी की प्रथम गेय कविता बन गई है। प्रसाद के नाटकों का बहुत-सा कुहरा फटता है इनके गीतों के नाद से। 'हिमाद्रि-तुंग शृंग' या 'अरुण, वह मधुमय देश हमारा' में क्रांति या स्वदेश-छवि अक्षरशः उतरती है। इसलिए, गीत अनेक प्रयोगों और नादों में भी अपनी इकाई को खो नहीं पाया है वरन् गीत ही अभिव्यक्ति के नए स्वर हैं और होंगे। स्वयं बिलकुल ही गद्य-जैसे पद्य रचनेवालों के कंठों में यह अनजाने फूटा है। रमा सिंह की 'इन्द्र धनुष' रचना में जितनी वर्त्तमान कविता की जानी-पहचानी काया नहीं है उतनी अनायास-प्रस्फुटित वह स्वर-लहरी है जो गीत के नाम से विभूषित हो सकती है। इस अंकुर का प्रस्फुटन पूर्व की कुछ रचनाओं में भी देखा गया था। जैसे, डा० देवराज का "सीता : स्वसंभाषण" पढ़ें। यह "आधुनिक कविताएँ : विवेचन तथा संचयन", सन् १९५९ ई० में प्रकाशित, की अंतिम रचना है।

यह अचल गंभीर मुद्रा, मूक वाणी,
यह विजन, शंकित हुआ है चित्त मेरा,
लौट मृगया से न आये बन्धु दोनों,
शीघ्र ही लग जाएगा झुकने अंधेरा।
फिर फड़कते अंग दक्षिण; सींचती हूँ
दीर्घ धनु में विष विशिख संधान लूँ,
ईंच भी व्यवहार में यदि खोंट झलके
बेझिझक इसके तुरत मैं प्राण हर लूँ

यद्यपि यह रचना "उत्तर सीता चरित : काव्य-नाटक" की प्रस्तावना बतलाई गई है, तथापि इसकी स्थिति संकलन के मध्य नहीं अंत में एक आगामी प्रवृत्ति की द्योतिका है। या अतुकांत से मुक्त जब कविता हुई थी, उस बड़ी तुक का मोह लोगों ने सचेष्ट तज दिया था, फिर यह आधुनिक कविता के विभिन्न पक्षों में सबल हुई ; फिर गजल, रुबाई, मुक्तक, शेर, या बिलकुल स्वच्छन्द में तुकबंद हुई। इससे भी टकराकर नई चेतना लेकर यह अब गीत में आई है। इतने व्यूहों से गुजरने के कारण इस कविता में न केवल महादेवी की या पंत या प्रसाद की ही सुकुमारिता है या निराला की अभिनवता या नेपाली की कोमलता है वरन् गद्य की रूखाई भी है या एक सतही बेसुरापन है जो वर्त्तमान या आधुनिक कविता में ऊपर से अनुभव होता है और सबसे बड़ी बात यह है कि इसमें सिर्फ कोमलकान्त पदावली ही नहीं है या कोमल भावना ही है वरन् तीखापन लिये, कड़वापन लिये व्यंजना है। यही नवांकुर धरती फोड़ ऊपर आया है। इसकी जड़ मजबूत हो रही है चूँकि इसका संबंध मिट्टी और पानी से है और यह संघर्ष करता आया है। इसको कबीर या मीरा, सूरदास या तुलसीदास की पदावलियों की लड़ी के रूप में भी देखा जा सकता है। या

निराला की अंतिम रचनाओं में इसका आभास मिलता है। निराला का पट विशद् था। निराला प्रवर्त्तक थे। एक रचना का दूसरी रचना से साम्य न रहता था। प्रत्येक रचना में कवि की पूर्व कृतियों से प्रगति रहती थी। इसलिए, हिन्दी कविता की सारी प्रवृत्तियाँ, विधान, भाषा, चिंतन, भावना की प्रवृत्तियाँ, उनमें आईं और इसलिये, इसमें यह नवांकुर आया। 'वीणा वादिनी वर दे' से लेकर अंतिम रचना में वर्त्तमान, आधुनिक कविता के सारे चरणचिह्न उगे हुये हैं।

थोड़े-बहुत गीत सभी कवियों ने लिखे हैं। काव्य की यह इकाई साहित्य में एक अद्भुत अवतारणा हुई। प्रारंभ में, जैसे संस्कृत में, एक वृहद् काव्य-ग्रन्थ में यह वंदना या अर्चना रूप में अपनी अलग सत्ता के साथ देखी गई थी, या इसकी प्राण-धारा कालिदास के 'मेघदूतम्' या बहुत बाद जयदेव के 'गीतगोविन्दम्' में अत्यन्त गेय, अंतिम में तो तुकान्त तक भी, स्वर-लहरी के रूप में विकसित हुई, या जो हिन्दी काव्य में, सूरदास, कबीर, नानक, मीरा के हाथों खूब सशक्त भी हुई, जब भजनों में मानव के सभी स्पंदन आये थे। खड़ी बोली में इसका ही प्राधान्य रहा, मोटे काव्य ग्रन्थों का नहीं। काव्य के महासागर से एक स्रोत अलग हुआ। इसलिये, संपूर्ण काव्य की भावना या परख को यह अपने में पूर्णतः उतारती भी रही। काव्य की इस इकाई का इतिहास ज्ञान-भरा है, केवल गान-भरा नहीं। प्रारंभ में, इस इकाई का रूप गीत ही नहीं था, स्फुट, फुटकल, कविता का रूप था। आज भी है। जिस गीत से काव्य के प्रकार का अभिप्राय है, वह महादेवी ने समग्रतः दिया, यद्यपि उसमें विविधता न आ पाई, वह विविधता जो निराला में देखी गई या प्रसाद में भी कुछ हद तक। जिस गीत में वर्त्तमान कविता करवट बदल रही है और जिस

गीत में भावी पीढ़ी कल्लोल करेगी, उसका सौष्ठव तुक, गेयता, कोमल शब्दावली पर आधारित है, यह सत्य है परन्तु जिसके संगीत में प्रबुद्धता और सजगता भी है, कोरी विह्वलता या थपकियाँ ही नहीं। गीत की दो कड़ियाँ हैं : एक महादेवी-वर्गीय; दूसरा, वर्त्तमान वर्गीय ; पहली कड़ी टूट चुकी है, दूसरी अभी बनी है और मेरी स्थापना है, चिंतन एवं मनन के आधार पर, दृढ़ और अभिव्यक्ति का एक ही माध्यम बनकर रहेगी। यह काव्य की परिणति भी होगी।

सन् १९५८ ई० में प्रकाशित "गीतांगिनी", राजेन्द्र प्रसाद सिंह द्वारा प्रस्तुत 'नवगीत-संकलन' में, गोस्वामी मदन गोपाल अरविन्द के काव्य-संग्रह "अगीत" और अब प्रकाश्य संग्रह "गीत-हंसिनी" में मैंने इस नवांकुर को देखा है। रमा सिंह का एक गीत लें :

मटमैली गड़ गई सखी री ! यह पञ्चरङ्ग चुनरिया
× × ×
कच्चा था रँगरेज सखी री ! और बड़ा बहुरुपिया,
कच्ची-कच्ची चुनरी रंग दी, करता कौन कदरिया ?

इसमें कबीर की "भीनी-भीनी चदरिया" वाली बात है, इसलिए मौलिकता नहीं, परन्तु काव्य में फूटती नयी व्यंजना की दृष्टि से आशा है। धर्मवीर भारती कृत 'धूल-भरी आँधी' के गीत :

ओ रे.....
धूल-भरे पवन झकोरे !
तेरे हाथों हरदम बेबस हूँ मैं
जैसे चाहे तूने हरदम खींचे डोरे
× × ×
पतझड़ की संध्या को
पाहुन बनकर आ ओ !

सूखे मुँह, धूल-भरे पवन झकोरे
ओ ऽ ऽ ऽ रे !

या हंसकुमार तिवारी की 'गीति' :

प्रिय, दोनों में कौन भली ?
आँसू-ओस नयन-नीरज की, अधरों की
अधखिली कली ?

या शम्भुनाथ सिंह के 'विश्व मेरे' :

विश्व मेरे, मैं तुम्हारा हो गया हूँ,
मैं मिटा निज को, तुम्हीं में खो गया हूँ,
तुम गगन-विस्तार, मैं झंकार बनकर
अब तुम्हारी ही लहर में सो गया हूँ ?

में मंजे, आधुनिक अथवा वर्त्तमान कविता के अनेक उन्नायकों में फूटी गीति मननीय है इस दृष्टि से नहीं कि इनमें कोमलकांत पदावलियाँ हैं बल्कि इसलिये कि अपनी स्वच्छन्द और फुटकल परिधियों से निकलकर ये नये स्वर आ रहे हैं।

अन्यथा, आधुनिक और वर्त्तमान कविता के मध्य में अवतरित और हरिऔध, गुप्त, प्रसाद, निराला, महादेवी, पंत की परम्परा के कायल तरुण कवियों में यह नयी स्वर-लहरी बावरी न होकर खूब संवरी है। कामेश्वर सिंह 'मस्त' हर तरह की कविता लिखते हैं, विप्लवी, मायावी, परन्तु, निम्नांकित 'सुरभि के शर न मारो' गीत में प्रबुद्धता और अन्तर्वेदना का एकाकार गायन विशिष्ट है :

सुरभि के शर न मारो प्राण, मैं बिल्कुल अकेला हूँ
तुम्हारे संग में तो सुलगते जाते तृषा के कण,
कुलागत लाज में बन्दी प्रणय का सरस आलिंगन
मुझे तो छल गई ऊषा गुलाली गाल दिखलाकर

सुहागन शाम का पाहुन, दिवस का ताप झेला हूँ
सघन पश्चिम पवन के झूमते हिन्दोल पर चढ़ कर
सजा कर सेज मनसिज के विसर्जन के लिये तत्पर
विवश अलि ! मैं रहा परित्यक्त अम्बर से, धरा से भी
पहेली-सा अबुझ अनजान सपनों का झमेला हूँ

इसमें मायावी स्वर हैं अवश्य, 'प्रणय का सरस आलिंगन', 'उषा गुलाली गाल', 'सुहागन शाम', 'अलि', 'मनसिज' में क्षितिज के इस पार का सम्मोहन भी है, जो नूतन नहीं है, परन्तु 'बिल्कुल अकेला' या दिवस का ताप झेला हूँ में चिंतन, कुण्ठा, अवसाद, निरर्थकता या इससे आगे बढ़ने और इसे विजित करने की युगीन ध्वनि है। यह ध्वनि वह्नि-सी भी। इसलिए, यह नवांकुर है।

इसी प्रकार, अब समीक्षा में रत, परन्तु कई नई कविताओं के प्रयोगकर्त्ता, विष्णुकिशोर झा 'बेचन' ने भी इस गीत का मर्म गेय किया है।

टूटे दिल से प्यार न मांगो—
गाऊँ कैसे गीत विहंगम
बिखरे स्वर के अनमिल संगम—
एक तार से सभी स्वरों की तुम मधुरिम झंकार न मांगो,
दूँगा कभी प्यार जीवन का
आता रथ अब तो नवीन का
नया सबेरा, नयी जिन्दगी, आज पुरातन क्षार न मांगो

इनकी कुछ 'नई' रचनाओं में भी यही चिंतन आया है, जनवाद से आकर्षित आस्था आई है, परन्तु इस गीत की न तो गति है उनमें न ही प्रेषणीयता। यह गीत दस वर्ष पहले का है, कामेश्वर सिंह मस्त का गीत भी इससे थोड़ा ही नवीन है, परन्तु ये दोनों गीत इतिहास और स्व-विकास की दृष्टि से छटपटाती

मानवीय अन्तर्वेदना के आनेवाले और अब आये हुए स्वर के दृष्टांत हैं, इसमें संदेह नहीं।

यह ठीक है, ये गीत कभी-कभी लोकप्रियता की ललक में 'फिल्मी' या 'इल्मी डिजाइनों' के भी बन गये हैं या विशेषकर किसी खास स्थिति के वश में आकर, जैसे भारत पर चीन-आक्रमण के संदर्भ में या अभी-अभी पाकिस्तान के आक्रमण के उपलक्ष में, महादेवी-वर्गीय या दिनकर-वर्गीय विह्वलता, अकुलाहट, कच्चे उपादानों से रचित होकर यह गीत वर्त्तमान प्रौढ़ता से वंचित रहा है, भावना,कल्पना, लम्बी-लम्बी, बढ़ी-चढ़ी बातों का इसने सहारा लिया है, कवियों का निजस्व भी जाता रहा है, परन्तु यह इस स्थापना पर टिका रह सका है कि जैसा समाज होगा, वैसा साहित्य या युग साहित्य में बोलेगा ही या कवि भी नीरो की बांसुरी नहीं बजा सकता जब वस्तुतः उसके चारों ओर वह्नि या अग्नि ही खेल रही हो। चूँकि सभीक्षक भी उससे भिन्न नहीं, इसलिये इस भावातिरेक को मैंने अधिकांशतः गीतों में ही व्यक्त होते देख अपनी स्थापना, अभिव्यक्ति के नये स्वर गीत हैं, होंगे, को ठीक ही पाया है। "चीन को चुनौती" नामक संग्रह (दिसम्बर १९६२) में ४६ 'चीन-भारत युद्ध की पृष्ठभूमि' में लिखित 'राष्ट्रीय कविताएँ' हैं। माखनलाल, दिनकर, बच्चन, नागार्जुन, प्रभाकर माचवे तो हैं ही, भवानी प्रसाद मिश्र, भारतभूषण अग्रवाल, वीरेन्द्र मिश्र, सरीखे 'आधुनिक कविता' फरोश भी हैं। वीरेन्द्र मिश्र के 'हिमालय छीन ले' में क्रम वर्त्तमान कविता-सदृश ही है परन्तु उद्घोष एकदम युगीन है, भवानी प्रसाद मिश्र का 'अभय-गान' वर्त्तमान कविता के धरातल को ही फोड़कर निकला गान है।

घन अँधेरी अग्नि-बानों के बिना
कटनी नहीं ;

जुल्म की छाती मशक्कत के बिना
फटनी नहीं ;
उठ खड़ा हो तू
अकेला ही निराशा चीर मन !
तू किसे देगा अभय—
जो खुद हुआ दिलगीर मन !

वर्त्तमान कविता की संभावनाएँ फिर एक बार भवानी प्रसाद मिश्र द्वारा बढ़ीं और पुष्ट हुईं। निराला परिषद्, पटना द्वारा प्रस्तुत 'नवाञ्जलि' में एक कवयित्री और आठ कवियों की ५४ रचनाओं में नवांकुर के बढ़ते हुये आकार को देखकर मेरी आस्था बनी है। बहुत-सी रचनाएँ आर्द्र हैं, प्रबुद्ध नहीं हैं, झंकृत तारों को ही छेड़ने की चेष्टाएँ हैं, परन्तु इन उदीयमान रचनाकारों में एक स्फूर्ति है जो काव्य की आपूर्ति भविष्य में करेगी। कवयित्री कविता पंकज का एक गीत है 'फिर एक बार कुछ गा दे' :

ओ-रूठे पथ के राही ! फिर एक बार कुछ गा दे रे !
थक जाएगा, ठहर ! सहारा
बनकर मुझको आने दे,
थके चरण धोकर मुझको
साथी, उत्साह बढ़ाने दे,
भाग न रे, आ, मेरे सपनों को आकार बना दे रे !

या मैथिली वल्लभ 'परिमल' के 'गीतों के गांव में'—

बजने दे जीवन के तार
गीतों के गाँव में !
दूबों की फुनगी पर ओसों की प्यास,
भर जाता किरणों के मन का आकाश;
बिछ जाता है हर सिंगार, लोर-लिये ठाँव में

'लोर-लिये' में, प्रचलित शब्दावली में, आंचलिकता है परन्तु 'ओसों की प्यास', 'हरसिंगार' जैसे परिचित उपकरणों के बावजूद एक ताजगी है स्वर में। इसी प्रकार, हिन्दी की पत्रिकाओं में आये दिन गीत छपते हैं। बहुतेरे महादेवी-वर्गीय ही रहते, परन्तु निराला या भवानी मिश्र वर्गीय भी रहते, इसमें संदेह नहीं।

राम गोपाल परदेसी ने इधर बहुत-से संग्रह निकाले हैं जिनके माध्यम से उपेक्षित, विस्मृत और यत्र-तत्र प्रकाशित कलाकारों को हमारे समक्ष लाया है। सम्पादन के माध्यम से हिन्दी में बहुत कार्य हुये हैं। सम्पादन सिंचन होता है। सम्पादन आलोचन भी होता है यानी नीर-क्षीर विवेचन। संग्रहकर्त्ता की शक्ति भी इसके द्वारा जाँची जा सकती है। पत्र-पत्रिकाओं में भी इसकी गुंजाइश होती है। हिन्दी-साहित्य का प्रचार और प्रसार भी इनके द्वारा हुआ है. पर बहुत-सी पत्रिकाएँ गुट, दृष्टिकोण, पूर्वाग्रह से रोग-ग्रस्त होती हैं, बहुत कम ही पत्रिकाएँ साहित्य-सर्जन की मंगल दृष्टि से प्रेरित होती हैं। साहित्य-सर्जन खोज और अन्वेषण तथा कठोर परीक्षण के द्वारा ही संभव है। मैं दादुर-वर्गीय पत्रिकाओं की बात नहीं करता हूँ चूँकि इनकी टेर मौसमी ही नहीं घोर व्यावसायिक होती हैं। इसलिए, संग्रहों को मैं चिंता से देखा करता हूँ। रामगोपाल परदेसी हठी एवं आग्रही व्यक्ति हैं। "गीतांकुर", "उद्गम", "गूँजते स्वर" के संचयन में निष्ठा है। सभी रचनाएँ उत्कृष्ट हैं या संचय-योग्य, यह नहीं कहा जा सकता, आधुनिक, नवीन, नई जैसे विशेषणों के गलत अर्थ कहीं-कहीं लगाये भी गये हैं, परन्तु मंतव्य और कृतित्व में दूरी कम है, यह आस्था, आशा की बात है। "प्रस्तुत संग्रह को 'गीतांकुर' की संज्ञा मैंने नहीं दी। गीतों के प्रति मेरी सनातन निष्ठा और अडिग

विश्वास ने ही यह अर्थपूर्ण नामकरण किया है। गीतों का युग अभी नया है। अतः गीत स्वयं गीतांकुर है। इस संकलन में गीत अधिक कविताएँ कम हैं।" नामकरण अर्थपूर्ण है अवश्य, संचयन अर्थपूर्ण है या नहीं, यह विवेचनीय है। अंचल, नीरज, बच्चन, बाल-स्वरूप राही, माखनलाल चतुर्वेदी, स्वयं रामगोपाल परदेसी, रामावतार त्यागी, बहुत पहिचाने गीतकारों के अतिरिक्त नये या पत्र-पत्रिकाओं तक सीमित 'हस्ताक्षर' हैं। "उद्गम" के संबंध में घोषणा है : "प्रमुख कवियों के साथ नये भी हैं। इन कवियों के सम्पूर्ण सृजन से चुन-चुनकर गूँथा गया यह सतलड़ा हार है। अधिकांश रचनाएँ प्रणय परक हैं, कुछ रचनाओं में प्रेरणात्मक, विद्रोहात्मक और की श्रम गौरव गरिमा की अभिव्यक्ति है—आनन्दोल्लास से लेकर मर्मान्तक पीड़ा···नई कविताएँ इसमें बहुत कम हैं···।" अर्थात् कवि-कवयित्रियों की प्रतिनिधि रचनाएँ ही दी गई हैं।

"गूँजते स्वर" में सम्पादक के ये दावे हैं : 'अधिकांशतः गीत ही हैं, यत्र-तत्र ४-६ अतुकान्त रचनाएँ भी हैं। ····विविधता···· शृंगारात्मक, प्रगतिशील, बौद्धिक और राष्ट्रीय भी···कल्पना ही नहीं, अनुभूतियाँ, लालसाएँ·····भाव नैसर्गिक रूप में प्रकट हो रहे हैं।"

कुल-मिलाकर सम्पादन चिंतन-प्रसूत है, निष्ठा-अभिप्रेत है। इसमें संदेह नहीं। एक बात और। कविता के विभिन्न रूपों से गुजरकर फूटते नए स्वरों का समूहीकरण है। सभी नए या समर्थ, सार्थक स्वर नहीं हैं, यह बात है, फिर भी प्रवृत्ति नयी व्यंजना की ओर उन्मुख है ही। यह प्रवृत्ति माखनलाल, अंचल, में तो भी जोरों से आई है, यह एक और उपलब्धि है। माखनलाल की रचना—

"बातों को भारी करो नहीं अवतरणों से

चुपके-चुपके गाओ वीराने में
गाठें पड़ जाती हैं, ईमानों में साथी
बे पहचाने बोलों के आने जाने में
तीतर बरनी बादलियाँ, बरसें, मिटें, लुटें
मन-तरु के पत्ते गूंथ गूंज कर किरणों से
ये रूढ़ जायंगी, टूट पड़ेंगी, रोवेंगी
बातों को भारी करो नहीं अवतरणों से"

में 'चाह नहीं, पुष्पवाली' रचना से प्रगति है। इस वर्त्तमान रचना में मिठास, प्रवाह, उमंग बलि की, के अतिरिक्त जीवन का तप-अर्जन है, निष्कपटता है बोल में उर्दू, चित्र-क्षम शब्दों के प्रयोग हैं, 'ईमान', 'वीरान' और ग़जल, रुबाई की रवानी के साथ-साथ वर्त्तमान कविता-सुलभ तीखापन, व्यंग्य, विवेक है। माखनलाल की तरुणाई शैली और युगीन आह्वान दोनों की दृष्टि से अक्षुण्ण एवं प्रगतिशील रही है। सफल, सच्चे कवि के साथ यही बात होती है पर यह बात बच्चन, अंचल, नीरज के साथ नहीं कही जा सकती, भले ही इनकी रचनाएँ पहले-से भी अधिक मधुर या आर्द्र हो चली हैं। इन्हीं कवियों की संकलित रचनाओं में अवरोध स्पष्ट है। कविता, वह किसी भी विधान में आये, एक अविच्छिन्न व्यंजना होती है अन्यथा तुक, उपमा, या प्रतीक तक को कोई भी चुनकर सफल रचना कर लेता। शब्दों की मधुरिमा से ही कविता फूटती है, यह पुराने और नये कवियों को भ्रांति के रूप में छलता रहा है। या कोरे कोमल, वीर, शांत, रसों के सचेष्ट योग से कविता बन जाती हो, यह भी कवियों को गुमराह करता रहा है। विष्णुरंजन शर्मा की रचना "मन का ज्वालामुखी" में नवांकुर स्पष्ट है :

—'न्यायालय में

डरता है काम से
क्रूरों की आह से
मन की उछाह से
कहती अपावनता
भावों की तरलता है,
भूले से कह जाती
मन की सरलता है।
.....
ज्वालामुखी मचलता है
दलितों को दलता है।

"टटका आदम" (सन् १९६६) में तुकान्त गद्य नामक एक विधा का सर्जन हुआ है। इसके संबंध में जो समीक्षाएँ आई हैं, उनमें हिन्दी-काव्य की एक विधागत उपलब्धि को स्पष्टतः कबूल किया गया है।

★

५. काव्य : कथा-काव्य : महाकाव्य :

काव्य से मेरा तात्पर्य है ऐसा ग्रन्थ जो फुटकल कविताओं का संग्रह न होकर एक खास विषय की कविता है, काया कैसी भी हो। संस्कृत में 'मेघदूतम्'। हिन्दी में प्रसाद का "आँसू"।

कथा-काव्य की मेरी परिभाषा है : ऐसे काव्य ग्रन्थ जो किसी ऐतिहासिक, पौराणिक नायक, नायिका की जीवनी की महिमा, गरिमा को काव्य की मधुरिमा में उतारता है। श्यामनारायण पाण्डेय की "हल्दीघाटी", वीरेन्द्र कुमार गुप्त का "प्राण-द्वन्द्व", रामावतार पोद्दार 'अरुण' की "वाणाम्बरी"।

महाकाव्य की बात इन सबसे भिन्न है। इसका विधान कैसा भी हो, ऊपर-वर्णित काव्यों जैसा ही, सर्ग, वर्ग, में विभाजित परन्तु जिसका प्रणयन 'महा' होता है, सर्वोन्मुखी, सर्वव्यापी। बहुत हद तक 'कामायनी'। 'रामायण", "रामचरितमानस"।

१

'आत्मजयी', जनवरी सन् १९६५ ई० में प्रकाशित, कुँवर नारायण द्वारा कृत काव्य है। कुँवर नारायण आधुनिक तथा वर्त्तमान कविता के उन्नायक रहे हैं। इस काव्य में, इसलिये, दो तथ्य हैं : चिंतन, मानव-जीवन की शाश्वत समस्याओं, शंकाओं का चिंतन, वर्त्तमान उलझनों की पृष्ठभूमि में तथा युगीन व्यक्तीकरण। कथा कठोपनिषद से ली गई है। यह नचिकेता की कथा है। प्रकाशन-विज्ञप्ति है : "यह कृति मूल प्रसंग के दार्शनिक पक्ष को ऊहापोह नहीं करती, न ही उसे दिव्यकथा के रूप में ग्रहण करती है। 'आत्मजयी' के कवि ने मुख्यतः नचिकेता की मानवीय परिस्थिति को ही दृष्टि में रखा है। नचिकेता की ही तरह आज

का चिन्ताशील मनुष्य भी ऐसे मूल्यों के लिए जीना चाहता है जो उसमें सुख ही नहीं सार्थकता का भी बोध करा सकें। 'आत्मजयी' में मूल्यों को लेकर कोई अन्तिम फैसला नहीं दिया गया है : केवल रचनात्मक दृष्टिकोण के प्रति एक आस्था व्यक्त की गयी है।" स्वयं कवि की व्याख्या भी ऐसी ही है।

काव्य २८ में विभाजित है। ये अट्ठाईस सर्ग नहीं हैं। प्रत्येक को शीर्षक दिया गया है। अंतिम चार 'बोध' कहे गये हैं। ये 'संकेतिका' कहे गये हैं।

पूर्वाभास में कवि अपने दायित्व के प्रति सजग है। विनम्र भी। यह ठीक है, शालीनता के ही कारण नहीं, वरन् कवि के आत्म-मनन के कारण।

कुँवरनारायण ने अपनी चिर-परिचित शैली में ही अपने को व्यक्त किया है। यह काव्य आधुनिक कविता में आया है।

संपूर्ण काव्य के पठन, मनन करने पर व्यक्तीकरण की निष्कपटता, सरलता तथा शांति-स्थिरता अनुभव होती है। यह विषयानुकूल है। यह इसकी शक्ति है। कवि एकाग्र है, वाणी उसकी संयत है। अंतिम इकाइयों के नाम भी 'शान्ति-बोध' तथा 'मुक्ति-बोध' हैं। शांति, श्री की व्याप्ति की पराकाष्ठा निश्चल उतरती है।

सूर्योदय।
एक अंजलि फूल!
जल से जलधि तक अभिराम।
इस अपरिमित में
अपरिमित शांति की अनुभूति।
अक्षय प्यार का आभास।

अंतिम पंक्तियाँ कवि के चिन्तन के सारे तत्त्वों को पुनः बटोरकर लाती हैं, उद्वेलन, पूर्व मंथन के उपरान्त भी, मानो बना

रहता है, जो मानवीय घटना है और जो दर्शन की प्राप्ति के बाद भी मर नहीं जाता।

अपने को हमेशा के लिए
सुरक्षित कर लूँ
दूसरों के सरल आश्वासनों और फूहड़ पहचानों से।
मैथुन
मैत्री
ममत्व
महत्त्वाकांक्षाएँ·····
क्योंकि इनके अन्त तक आकर भी
पूर्ण नहीं हुआ।
क्योंकि इनके पूर्व निश्चित परिणामों में
घटित होकर भी मरा नहीं
बार-बार अक्षुण्ण लौट आया हूँ।
क्योंकि इन समाधानों के बीच
चौंक-चौंक कर पूछता रहा हूँ—
"जीवन क्या है ?
मृत्यु क्यों ?
मुक्ति कैसे ?
ईश्वर कहाँ ?"

यह "समाधानों के बीच चौंक-चौंक कर" पूछना यथार्थतः मानवीय सीमाएँ हैं, जो आदि से अभी तक मिटी नहीं हैं, अनेक धर्म, ज्ञान, दर्शन के समाधानों के प्रकटीकरण पर भी। काव्य की यह निष्कपटता इसे एक ही साथ विगत, भूत, वर्त्तमान से जुटा देती है। विज्ञप्ति या कवि की स्वोक्ति ठीक रहती है।

कवि अपने प्रेषण में अपने बोल और विधान से सफल है, निस्संदेह।

२

आनन्द शंकर माधवन की रचना "दीपाराधना" एक काव्य है। हिन्दी को इनकी देन अटूट रही है। अहिन्दी क्षेत्र से ये हिन्दी के क्षेत्र में बसे। हिन्दी की सत्ता के लिए इन्होंने लेखन भी किया। विद्यापीठ की स्थापना की। हिन्दी पत्रिका 'प्राच्य भारती' निकाली। उपन्यास लिखे हैं। अनेक कविताएँ भी लिखीं। "वर्षा" नामक गद्य-काव्य भी लिखा है। चूँकि आनन्द शंकर माधवन ने संघर्ष किया है, इसलिए इनकी कृतियों में तीखापन है, कड़वापन है। चिंतन है। चूँकि चिंतन बहुत घना है, जीवन के अनेक पहलुओं से संबंधित है, इसलिए इनकी कृतियाँ बोझिल भी हैं। संघर्ष-जन्य थकावट तथा बोझीलापन काव्य, उपन्यास, लेख, गद्य में भी व्यक्त हैं। पर निर्जन कानन, वन-प्रांतर में रहकर इन्होंने कल्पना की नगरी ही नहीं खड़ा कर ली है।

"दीपाराधना" आनंद-शंकर माधवन के व्यक्तित्व को लेकर रचित काव्य है। कवि के स्व की व्याख्या भी अपनी है। २७ मार्च १९६४ को लिखी गई यह व्याख्या ठीक उतरी है: "कज्जल-वर्ण, कोकिल-नयन, काक-कण्ठ, जर्जर शरीर, पुराना मोटर-इंजिन जैसा मस्तिष्क, जो सिर्फ आवाज भर करता है·····आठ दस नागफनी के पौधे·····भयानक नीरवता·····कलम पकड़ ली है इस उम्मीद में इस मरुभूमि को अलकापुरी बना सकूँगा·····" इसमें अन्तर्वेदना है। यह अन्तर्वेदना संघर्ष-जन्य है, इसलिए गहरी है, तीखी है, कड़वी है।

"दीपाराधना" का विन्यास आधुनिक, वर्त्तमान कविता के अनुसार है। इस प्रकार का विन्यास कुँवरनारायण के काव्य "आत्मजयी" का है। दोनों काव्य चिंतन के मर्मर हैं। वर्तमान सदी में चिंतन उन्मुक्त, स्वच्छन्द रहकर ही निनाद करता रहा है।

तुक, छन्द के बंधन इसके लिये समर्थ न हुये, हां, कहीं-कहीं विशेष उपयुक्त भी हुए, जैसे "कामायनी" में।

"दीपाराधना" में आत्म-मनन है। लालटेन और कवि के बीच संवाद इसका एक दृष्टांत है। आधीरात लालटेन से पूछती है, कब तक इस तरह जलना है, मुझे परमेश्वर के यहाँ गवाही देनी पड़ेगी और वही लालटेन ज्ञान-ज्योति इसे बांटती है :

आप जलना सीखें मुझ जैसा,
तभी प्रकाश दे सकेंगे संसार को।

इसी प्रकार 'समाज और जंगल दोनों बराबर' लगते हैं :

जंगल में शेर का आतंक है कमजोरों पर
समाज में होशियारों का।

इसी प्रकार इर्द-गिर्द, समाज में, देश में, विश्व में फैले हुए उपकरणों के संपर्क में आने पर कवि की अंतश्चेतना कलरव करती रहती है, जैसे 'अब तो मानव भी उड़ने लगे हैं', 'नालंदा की कब्र में एक अनाथ', किसलय और मुरझाती पत्ती के संवाद से जीवन-मरण की परिभाषा, वह भी तिलमिलाने वाली, अर्थात "दीपाराधना" कवि की "अनंत जिज्ञासा, अनन्त अतृप्ति" की वाणी है।

"दीपाराधना" में १३५ "गीत" हैं। परिचय देने में एक शुभ-चिंतक ने "गीत" कह डाला है। परन्तु स्वयं कवि ने कोई शीर्षक, पृथक-पृथक, नहीं दिया है। "आत्मजयी" में भी काव्य का विभाजन मात्र "सांकेतिका" के द्वारा हुआ है। चिंतन की पोर-पोर अलग नहीं की जा सकती, इसके ओर-छोर बतलाये भी नहीं जा सकते। इसलिए, "आत्मजयी" और "दीपाराधना" दोनों चिंतन, आत्म-मनन से उत्पन्न एक श्वांस की, एक आस की, काव्य-कृतियाँ हैं। ये सफल भी इसलिए हुई हैं। "दीपाराधना" में

आत्मीयता है, जो बिल्कुल ही निष्कपट, छल-रहित है, इसलिये, इसमें, जिस प्रकार "आत्मजयी" में, उत्तेजना नहीं है और इसलिए, उधम मचानेवाले स्वर नहीं हैं। इन दोनों कृतियों में ज्वार का वेग नहीं है परन्तु सागर का भारीपन है। इनमें समकालीन कवियों की बहुत-सी गड़गड़ाहटें, प्रतीक, रूपक, भाषा संबंधी, भी नहीं हैं परन्तु दोनों कवियों की गवेषणा की शक्तियाँ भी साथ-साथ हैं। काव्य की प्रौढ़ता तब होती है जब संयम मनोवेग और इसके व्यक्तीकरण दोनों पर रहता है।

"दीपाराधना", "आत्मजयी" से पूर्व आनेवाली है परन्तु दोनों में निस्संदेह एक ही स्पंदन है। वर्त्तमान कविता की विधागत प्रवृत्तियाँ इन दोनों में स्पष्टतः विचरती हैं, इसमें संदेह नहीं।

३

"प्राण-द्वन्द्व" वीरेन्द्रकुमार गुप्त द्वारा रचित तथा सन् १९६३ ई० में प्रकाशित कथा-काव्य है। हिन्दी में कथा-काव्यों की खूब रचना हुई है। इन्हें अधिकांशतः महाकाव्य भी कह दिया जाता है, जो एक भ्रांति है। महाकाव्य के पट और इस कथा-काव्य के पट में विशाल अंतर होता है।

"प्राण-द्वन्द्व" सीधा-सादा कथा-काव्य है। उपन्यास में भी कथा कही जाती है, अधिकांशतः एक लम्बी कथा। अम्बपाली की कथा रामवृक्ष बेनीपुरी ने नाटक में, चतुरसेन शास्त्री ने उपन्यास में और अन्यों ने काव्य, कविता में भी कही है। विधा कुछ भी हो, कथा के प्राण को अक्षुण्ण रखना कलाकार का धर्म है। इस प्राण को जीवित रखना, इससे अनुप्राणित करना दूसरा धर्म है। काव्य में कथा कही जा सकती है। सही-सही।

स्वयं वीरेन्द्रकुमार गुप्त को विधा के चुनाव में, माध्यम के

निर्णय में, वैयक्तिक तथा सामाजिक द्वन्द्व झेलने पड़े। चतुरसेन शास्त्री ने चेताया, "कहानी लेनी थी, तो उपन्यास लिखते"। चतुरसेन शास्त्री ने स्वयं उपन्यास ही लिखा। वीरेन्द्र कुमार गुप्त के अपने प्रश्न भी ऐसे ही थे : "मैंने उपन्यास क्यों नहीं लिखा।" "काव्योपन्यास" कवि का शब्द है। शंका का समाधान कवि कर लेता है एक झूठी, असंगत काव्य-गरिमा की दुहाई देकर, सम्पूर्ण, विश्वजनीन चेतनाओं को अनर्गल कहकर, "गद्यात्मक उपन्यासों का अतिशय विकास-प्रसार·····व्यवसायवाद और विज्ञानवाद की प्रबलता····· सांस्कृतिक तरलता, अस्थिरता·····" और यह कहकर "व्यक्ति या युग, दस हजार वर्ष पहले का हो या दस हजार वर्ष आगे का, उसकी सत्य-शिव-सुन्दरतम अभिव्यक्ति कविता में ही संभव है। ···रिस जाने की क्षमता जो कविता में है वह साहित्य की किसी भी अन्य विधा में नहीं"—चतुरसेन शास्त्री या खुद का प्रश्न कवि को मानव-व्यक्तीकरण और साहित्य की विधाओं के बिलकुल ही भ्रामक, गलत स्थापना की ओर उन्मुख कर देता है। सम्पूर्ण व्याख्या एक पंक्ति में हो सकती थी। विधा कोई भी हो, प्रभविष्णु रहे, अभिप्रेत व्यक्त कर सके। आज उपन्यास वही कर रहा है जो पहले मोटे-मोटे काव्य कर रहे थे। विदेशों में उपन्यास को महाकाव्य कहने की परिपाटी चल रही है।

दर असल, "प्राण-द्वन्द्व" कथा-काव्य है या कवि के व्याख्या-पूर्ण शब्द में एक "काव्योपन्यास" है। ऐसा होना कोई हर्ज भी नहीं परन्तु हिन्दी के कवियों को ऐसा स्वीकार करने में शर्म लगती है, आदरित से लेकर अनादरित कवियों तक को, महाकाव्य की तृष्णा कवि-मृग को काव्य की रेत में दौड़ाती रही है। यह कोई भी आंक सकता है, सभीक्षक या पाठक या स्वयं कवि ही।

"'"प्राण-द्वन्द्व" की कथा "महावेस्सन्तर जातक" से प्रेरित है।....मूल कथा के साथ मैंने मन-भर मनमानी बरती है....अब उसका प्रतिपाद्य बौद्ध धर्म का अहिंसा अथवा दान-दया का सिद्धान्त नहीं, बल्कि बुद्ध-पूर्व के भारत के वैचारिक, प्राणिक संघर्ष का चित्रण बन गया है जिसे सामाजिक-राजनीतिक पृष्ठभूमि पर अंकित किया गया है। मूल पात्रों—संजय, वेस्सन्तर, माद्री, ज्वालि-कृष्ण—के बस नामों का ही उपयोग मैं कर पाया हूँ। उनके मूल चरित्रों को मैंने कथानक जितना ही बदल डाला है। नन्दन, इला, रत्न, सुमन, विरति, दुर्द्धर्ष, रुद्र आदि पात्र एकदम कल्पित हैं।" ये कवि की स्वोक्तियाँ हैं।

कवि की दूसरी उक्ति—'पूरे काव्य में शास्त्रीय रस का नहीं एक समस्या और अन्तर्द्वन्द्व का सूत्र पिरोया गया.....' काव्य की प्राण-धारा बतलाती है। इसके विवेचन तथा "प्राण-द्वन्द्व" के पठन के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि, जो शुरू में इस सदी को कड़ी-कड़ी बात कह देता है, उसकी ही चेतनाओं से प्रेरित हो एक पुरानी कथा के माध्यम से निदान ढूँढ़ता है। यह निदान छंद, अलंकरण में आता है यद्यपि कवि की तीसरी उक्ति—'सचेत प्रयास मैंने उचित नहीं माना है क्योंकि.....तकनीक कलाकार के अन्तरंग में वर्त्तमान उद्वेग से ही निर्मित होनी चाहिये.....' वर्त्तमान कविता की अकुलाहट को भी व्यक्त करती है। इस धरातल पर "दीपाराधना", "आत्मजयी", "प्राण-द्वन्द्व" काव्य मिल जाते हैं। तीनों युगीन चेतना और चिंतन को ध्वनि देते; दो एक रीति से, यह परिचित रीति से।

काव्य ६ सर्गों में विभक्त है। अंतिम का नाम 'परिणति' है। यह ठीक है। प्रत्येक रचना की परिणति या पराकाष्ठा होती है। नायक वेस्सन्तर माद्री को ग्रहण नहीं कर पाता, पत्नी

माद्री मर गई थी ऐसा सुनने और फिर उसके लौटने के बाद और नायक सब कुछ त्याग कर स्वयं चल देने को विवश होता है। युद्ध, रुद्र और वेस्सन्तर के बीच, अच्छी तरह वर्णित है। विजयी नायक को महानाशक रण के पश्चात ज्ञान होता है :

"कर्म, श्रेय, धी, ज्ञान, भक्ति, तर्कों का जनक सुकर्म
कर्म प्रवणता को बनने दें इस जीवन का धर्म;
कृष्ण शुक्ल दो पक्ष सृष्टि के पुरुष और यह नारी,
बन एकात्म बढ़े सत्पथ पर यही जगत का मर्म।"

परिणति का मर्म भी यही है। काव्य का भी। इससे तथा अन्य आठ सर्गों में दी गई उधेड़-बुनों और विवादों से भी काव्य काव्योपन्यास ही रह जाता है। "प्राण-द्वन्द्व" कथा-काव्य है। छंद, लय, तुक में सफलता मिली है कवि को, यह ठीक है, कहीं-कहीं शैथिल्य है, परंतु कथा कहने में कवि सफल है।

४

कथा-काव्य से महाकाव्य की व्याख्या की ओर प्रवृत्त होना नैसर्गिक प्रगति है। सुमित्रानंदन पंत के "लोकायतन" और दिनकर की 'उर्वशी" को आधार मानकर यह व्याख्या की जा सकती है।

'लोकायतन" को 'लोक जीवन का महाकाव्य' के नाम से घोषित किया गया है।

युग की गाथा, संपूर्ण मानव इतिहास के संदर्भ में, वर्णित है, इसीलिये यह महाकाव्य है।

जन, भू, लोक, जीवन के दर्शन चर्चित हैं, इसलिये भी यह महाकाव्य है।

कवि की सारी अंतश्चेतनाओं का समूहाकार, परिणत एवं मुखरित दिग्दर्शन प्राप्त है, इसलिये भी यह महाकाव्य है।

उदात्त भावना और नायकों का चित्रण समाविष्ट है, इसलिये भी यह महाकाव्य है।

कृति भीमकाय है, इसलिये भी महाकाव्य है। परन्तु दर-असल क्या यह महाकाव्य है? काव्य तो है, पर स्पंदन है?

"उर्वशी" के प्रकाशन को हिन्दी में सबसे सबल, एक वर्चणीय महाकाव्य की अवतारणा की संज्ञा मिली थी। हिन्दी का हर कवि महाकाव्यकार है। कुछ कवियों ने तो एक नहीं कई महाकाव्य लिखे हैं। कौन-से साहित्य में इतने महाकाव्य हैं? समकालीन साहित्य नहीं वरन् सम्पूर्ण प्रकाशित विश्व साहित्य की गणना करने पर भी हिन्दी के आधुनिक महाकाव्यों की संख्या अधिक होगी, इसमें संदेह नहीं।

"लोकायतन" पंत का आधुनिकतम काव्य है। घोषणा है, 'लोक जीवन का महाकाव्य'। कथा-वस्तु की दृष्टि से सर्वथा मौलिक, किसी एक नायक की गाथा यह नहीं है, वर्तमान काल के अनुकूल लोकजीवन, लोकनायक की गाथा है। कवि के अनुसार, 'युग-जीवन के संबंध में युग-जीवन की भागवत कथा' यह है और एक प्रयास, इस संक्रान्तिकाल की युग-गाथा के भीतर से विकास-कामी मानवता के जीवन-सत्य की झाँकी का। दो खण्डों में यह विभक्त है। बाह्य परिवेश में, भारत के ज्ञात ऐतिहासिक संदर्भों में कवि की कल्पना विचरण करती है। वर्तमान का खाका खींचती है, परतंत्रता, मुक्ति, विभाजन, नवशासन-व्यवस्था, 'नव विभाग' का गायन करती है। द्वितीय खण्ड : अन्तश्चैतन्य में रूढ़ियाँ, जर्जरता, शोषण, नव जागरण, विज्ञान इत्यादि की युगीन स्थितियों का संकेत कर उत्तर, प्रीति में कवि अपना दर्शन पुष्ट करता है। कवि ने अपने शब्दों में ही समस्त काव्य का मूल्यांकन किया है।

"मैं लाँघ विश्वस्त मानस समस्त,
प्राची - पश्चिम का अतिक्रम कर

इतिहास, धर्म, संस्कृतियों के
शिखरों पर नवयुग के पग धर,
दे रहा तुम्हें जीवन दर्शन,
यह महत् कल्प परिवर्तन क्षण
निर्माण करो नूतन भविष्य
भू जीवन हो भगवत दर्पण—"

अर्थात, बीसवीं सदी का यह कवि भारत की पृष्ठभूमि में समस्त मानव चेतनाओं की व्याख्या कर एक दर्शन देता है। नव मानव की यह आस्थावान झाँकी है :

प्रथम बार अब जगत-ब्रह्म में,
ब्रह्म जगत में हुआ प्रतिष्ठित,
मुक्त भेद-मन से भू जीवन
चित्रपट में हुआ समन्वित
जन्म ले चुका अब मानव
जड़ चित् को कर रस संयोजित
धरा स्वर्ग कल्पना न रह
अब जन-जीवन में होता मूर्तित।
कवि मन के रससिक्त दर्पण में
देख भविष्य मनुज का आनन,
आओ, भू मन के विषाद को करें
प्रेम से प्रभु को अर्पण।

काव्य की इन अंतिम पंक्तियों के शब्द, प्रतीक, प्रेरणा का ही इसके ६८० पृष्ठों में व्यक्तीकरण हुआ है। कथा-वस्तु की दृष्टि से लोक-जीवन का मनन महाकाव्यात्मक पद्धतियों से भिन्न है, परन्तु महाकाव्यात्मक गुण से संपन्न, इसमें संदेह नहीं।

कवि की चिर-मुखरित प्रेरणाओं का ही समन्वित गायन हुआ है। 'युगवाणी', 'ग्राम्या', 'उत्तरा' के सभी तथ्य इसमें उपलब्ध हैं। यह स्वयं ही महाकाव्यात्मक परिणति है।

"उर्वशी" दिनकर की सन् १९६१ ई० की प्रकाशित रचना है, "कुरुक्षेत्र" के बाद की। "कुरुक्षेत्र" के दिनकर का सर्वाधिक मान रहा है, जिसे विद्रोही, प्रगतिवादी, राष्ट्रकवि के विशेषणों से प्रशंसित किया गया। परन्तु 'द्वन्द्वगीत', 'रेणुका', 'रसवन्ती' के दिनकर का पक्ष सर्वविदित नहीं रहा। लोकप्रियता और कलानिष्ठा अन्योन्याश्रित नहीं हैं, इसलिए।

परन्तु "उर्वशी" में दिनकर का यही पक्ष बलवंत हुआ है। "उर्वशी" एक पौराणिक कथा पर आधारित है। भूमिका में अनेक श्रुतियों और किंवदंतियों का उल्लेख है। पुरूरवा और उर्वशी, अर्थात् एक इस भुवन के पुरुष की और अप्सरा, दूसरे लोक की कामिनी की यह प्रणय-कथा है। पुरूरवा की मानवी स्त्री-औशीनरी भी पार्श्व में विद्यमान रहती है, उपेक्षिता, लांछिता, पति प्रेमविहीना के रूप में। इसमें भू और स्वर्ग के अपने-अपने सम्मोहन तो हैं ही, साथ-साथ मांसल आनन्द, तन की भूख और इसकी तुष्टि से उत्पन्न परम सुख भी है। तृतीय अंक में इन प्रश्नों की उलझनें व्यक्त हैं, यद्यपि उलझन मात्र ही। यदाकदा, दिनकर का विद्रोही कवि भी बोलता है, विशेषकर पुरुष द्वारा नारी वर्ग की उपेक्षा, समाज-शृंखला की बर्बरता और तत्कथित स्वर्ग, देवता के भ्रमजाल के प्रति यह अकुला जाता है। 'स्वर्ग स्वप्न का जाल' मानकर उर्वशी —'कल्पना का सुख' नहीं, 'जीवित हर्ष' खोजती है। पुरूरवा और उर्वशी के प्रणय-संबंध की मानो सराहना की जाती है। 'एक धार पर किस राधा का रहता बंधा प्रणय है।' गुप्त जी की 'अबला जीवन हाथ तुम्हारी यही कहानी' सदृश

औशीनरी की भी उक्ति 'आंसू छिपा हंसेगी। फिर हंसते-हंसते रोयेगी नारी'—वर्ग की विवशता पर जोर देती है। पर समस्या का निदान कहीं नहीं हो पाता। लॉरेंस और फ्रायड के इस युग में रक्त बुद्धि से अधिक बली है और अधिक ज्ञानी भी और खुलकर आनन्द लूटने, छक कर चाँदनी, सुधा पीने और शरीर के स्वाद चखने की प्रवृत्तियों की व्यंजनाओं में ही दिनकर सीमित रह जाते हैं। 'भ्रांति नहीं, अनुभूति' इस पर 'उर्वशी' आधारित है। पर प्रथम अंक में जो प्रश्न उठाये गये वे व्यर्थ ही उठाये गये, यह अंत में जान पड़ता है। औशीनरी के रहते पुरूरवा और उर्वशी का संबंध मानवीय तो है, परन्तु प्रतिष्ठित नहीं। मादक चित्रों की बहुलता से प्रश्नों का निदान नहीं होता। इसलिये आयु को सोलह साल बिलगा कर न उर्वशी, पुरूरवा, न आयु को संतुष्टि प्राप्त हुई। पुरूरवा को संन्यास लेना पड़ा, उर्वशी को स्वर्ग लौटना पड़ा। दिनकर का सतहपन ही है, महाकाव्य का ममत्व नहीं।

'उर्वशी' महाकाव्य है, यदि इसके ऐतिहासिक, पौराणिक कथा-विन्यास तथा उदात्त नायक एवं विशिष्ट नायिका का चित्रण देखा जाय।

यह महाकाव्य है, यदि इसके कथा कहने के ढंग को देखा जाय, 'छम-छम' नृत्य, कोमल अप्सराओं की पद-चाप को अनुभव किया जाय।

यह मानव-जीवन के एक प्राथमिक प्रश्न—रुधिर तथा विवेक, मांसल आनन्द एवं विकार रहित साधना के क्या पारस्परिक और उचित संबंध हैं, का संशय उभारता है, दर्शन की सतह कुरेदता है, उसी मात्रा में जिस मात्रा में 'कुरुक्षेत्र' का शर्माया कवि युद्ध की अनिवार्यता और समाज-शृंखला की कुरूपता की मीमांसा करता

है। 'उर्वशी' का तृतीय जंक 'कुरुक्षेत्र' के पष्ठ सर्ग के ही समीप है। दर्शन के इस पुट के कारण ही "उर्वशी" महाकाव्य है। इसमें युग भी बोलता है, बीसवीं सदी का युग, फ्रायड, लॉरेंस हू-ब-हू बोलते हैं, शब्दों के उद्धरणों में बोलते हैं।

परन्तु न तो 'लोकायतन', न 'उर्वशी' संपन्न महाकाव्य है। आकार है, विधान है, पर मर्म नहीं।

सर्गों में बाँट कर पौराणिक अथवा ऐतिहासिक कथा के कलरव से या युगीन चेतनाओं की कोरी तुकबन्दी से महाकाव्य नहीं बन जाता। न ऐसे महाकाव्य लिखकर कोई रचनाकार महाकवि ही बन जाता है। कहते हैं, हिन्दी में प्रथा है, 'महाकाव्य' (?) के प्रकाशनोपरांत ही कवि महाकवि कहलाने लगता है। यह भ्रांतिपूर्ण है।

व्यक्तीकरण ओजपूर्ण हो, धीर, उदात्त, प्रतिष्ठित, ऐतिहासिक नायक हों, सर्वऋतु वर्णित हों, वीर या शृंगार रस प्रधान हों, सर्गों में विभक्त हों, उद्देश्यपूर्ण हों, ये गुण हमारे शास्त्रज्ञों ने महाकाव्य-निमित्त बतलाये हैं। पर बात यहीं खत्म नहीं हो जाती।

महाकाव्य की अवतारणा सर्वथा एक अद्भुत विलक्षण और संपन्न घटना होती है। संपन्न इसलिए कि कवि की, उसके युग, दृष्टिकोण, दर्शन, अनुभूति, संस्कृति, कभी-कभी उसके धर्म की भी। उसके आदर्शों और शैली की यह रचना पराकाष्ठा, परिणति एवं प्रतिष्ठा होती है। किंचित, इसलिए महाकाव्य लिखकर रचनाकार बहुधा विराम ले लेते हैं। कभी-कभी तो जीवन से ही निवृत्त हो जाते हैं या परम संतुष्टि या कहें अपनी साधना का पूर्ण स्खलन पाकर शांत हो जाते हैं। हिंदी में 'प्रसाद' के साथ भी यही बात हुई। और संयोग है कि "कामायनी" ही खड़ी बोली की अभी

तक सफल, उदात्त और अग्रगण्य महारचना है। विदेशी साहित्यों की बातें करें तो जान पड़ेगा कि दांते ने अपनी "डिवाइन कामेडिया" में या मिल्टन ने "पैराडाइज लॉस्ट" में या वर्जिल ने "एनिड" में और अपने देश में वाल्मीकि ने "रामायण" में, तुलसी ने "रामचरित मानस" में अपना और युग का, अपनी आस्था और अपने प्रतिमान का, अपने प्राप्त और प्राप्य का, अपने धर्म, संस्कृति, सभ्यता का सारा आत्मसात, अनुभूत, अर्जित, पूर्व परिचित, सार उड़ेल दिया। यह आवश्यक नहीं कि इनकी स्थापनाओं से मानववृन्द राग जोड़ ले, पर इतना आवश्यक है है कि इनमें सामयिक तथा युगीन, चिरन्तन तथा चिरकालीन मानवीय चेतनाओं के ऐसे आरोपण होते हैं कि संबंधित युग ही नहीं बाद की पीढ़ियाँ भी प्रतिच्छाया देखती रहती हैं। वाल्मीकि के 'रामायण' में या तुलसी के 'मानस' में आर्य संस्कृति और मध्यकालीन हिन्दू संस्कृति की सारी छवियां अंकित हैं, साथ ही मानव के दुर्बल और सबल पक्षों का शाश्वत निरूपण भी। मिल्टन की अमर रचना में तत्कालीन 'प्रोटेस्टेन्ट' आन्दोलन की सारी धाराएँ समाविष्ट हैं, साथ ही, मनुष्य की दुर्बलताएँ, या उसके मनस्ताप, फिर उन्हें विजित तथा सुन्दर में परिणत करने की आकांक्षाएँ जिनका स्वर्णिम, अभिराम आरोपण मिल्टन ने "पैराडाइज रीगेन्ड" में किया तो अवश्य परन्तु जो पूर्वकृति की शक्ति से वंचित ही रहा। दांते ने अपनी प्रियतमा की छवि ही नहीं देखी वरन् इतिहास के सभी क्षेत्रों के नायक के आलोड़न-पीड़न तथा घटनाओं के चढ़ाव-उतराव को देखा।

"लोकायतन" में पंत के दृष्टिकोण और उनकी आस्थाओं का —"युगवाणी", "उत्तरा", "ग्राम्या", "चिदम्बरा"—की प्रति-ध्वनियां हैं, महाकाव्यात्मक पद्धति में आदि, मध्य और वर्त्तमान

युग के, धर्म और कर्म मुखरित हैं, राम, गाँधी के प्रतिमान हैं, इसमें संदेह नहीं, परन्तु "महाकाव्य" का निरूपण नहीं है, अपेक्षित स्वर नहीं है।

"उर्वशी" में वस्तु की ही संकीर्णता और दुर्बलता है, मनुष्य के प्राथमिक प्रश्नों की छेड़खानी है, उलझन है, पुरूरवा और उर्वशी के प्रणय में मांसलता है, चांदनी और अप्सराओं की स्निग्धता है, संवादों में वाद-विवाद है, परन्तु न तो प्रश्नों का उत्तर है, न कोई दर्शन ही सुधा के प्रवाह में छन पड़ता है। बल्कि आयु के जन्म बाद उर्वशी की विह्वलता, पुरूरवा का विलाप, फिर विषम परिस्थितियों का समाधान, वेगवान समाधान, इस रचना के गंभीर धरातल का पर्दाफाश कर देता है। इसमें भी 'द्वन्द्वगीत', 'रेणुका' के कवि की अनुकूल झांकी रहती है, परन्तु कवि को कुछ नहीं मिल पाता है। पुरूरवा और उर्वशी के संशय, वार्तालाप में लॉरेंस, फ्रायड की युगीन उपलब्धियाँ हैं, रुधिर विवेक, बुद्धि से अधिक प्रखर है, यह स्थापना लॉरेंस और फ्रायड की है, उनकी खोजों और विवेचनाओं पर ही टिकती है। परन्तु दिनकर का काव्य हंगामा कर रह जाता है। महाकाव्य की वह परिणति, वह प्रतिष्ठा इसमें नहीं जो हमारे संस्कृत आचार्यों ने बोधगम्य आदर्श—एक उद्देश्य, सार महाकाव्य में होना आवश्यक है—में निर्देशित की थी। दूसरे, उर्वशी का विन्यास महाकाव्यात्मक भी नहीं है। मैं इसे गीतिनाट्य मानता हूँ। सूत्रधार, प्रवेश की तो विधि है ही, सर्ग के बदले अंक का नामकरण तो है ही, साथ-साथ घटनाओं का, भावनाओं का, संवाद का वेग नाटकीय है, महाकाव्यात्मक नहीं।

पहले 'महाकाव्य' वही करता था जो आज कोई बड़ा उपन्यास जैसे, "गोदान", "मैला आँचल"—करता है, अर्थात

मानव-समुदाय, काल को अपने में समेट लेता है। न कथावस्तु में, न इसके विभाजन में पर इसके कलरव में, युग, चिरकाल, संस्कृति, धर्म, सभ्यता, दर्शन, दृष्टिकोण, समाज चेतना के उदात्त आरोपण में, प्रतिनिधित्व में महाकाव्य का निजस्व रहता है।

"लोकायतन" और "उर्वशी" में कवियों ने अपनी-अपनी शैली बरकरार रखी है। यह बात साधारणतया महाकाव्यों में पाई भी जाती है। "आँसू" की व्यंजना "कामायनी" में है। पंत का 'गा कोकिल बरसा पावक कण' पद्य "लोकायतन" की चौथी पंक्ति में ही—'बरसाओ चित्पावक कण'—'स्वर्णिम स्वर'—में संचित है। उसी प्रचार भू, जन, वधू, नव पंत के ही मानी-मतलबों से संयुक्त रहते हैं। "द्वन्द्वगीत" का विराट् रूप "उर्वशी" है, यद्यपि द्वन्द्व यहाँ एक ही तथ्य से उद्वेलित रहता, जहाँ द्वन्द्वगीत में अनेक तथ्यों से।

परन्तु न तो "लोकायतन" न "उर्वशी" में दोनों कवियों को वांछित गुरुता मिलती है। आलोचकों ने बराबर पंत की तुलना वड्सवर्थ से की है, प्रकृति की चित्रात्मकता और रागात्मकता का साम्य देखा है। उन्हें यह जानकर किंचित् निराशा हो कि पंत और वड्सवर्थ दोनों में एक ही प्रकार के राग और ह्रास देख पड़ते हैं। 'लूसी ग्रे' और 'रेनवो' नामक दो छोटे पद्यों में वड्-सवर्थ के दर्शन और राग जो मुखरित हुए, वह भी पूर्णतया उनके ही बोल उस कवि की वृहत् तथा अनेकानेक रचनाओं में मिलते रहे, उत्तरोत्तर शिथिल हो-होकर। पंत का "लोकायतन" भी इनके राग और ह्रास से पूर्ण है। "उर्वशी" में दिनकर की कथावाचन-शैली इतिवृत्त कहती है। मैं यह नहीं कहता हूँ कि इन दोनों कवियों को सर्वथा नवीन शैली का प्रयोग करना चाहिये था। महाकाव्य में कवि के दर्शन और राग का ही नहीं बल्कि शैली का

भी प्रतिनिधित्व होता है। परन्तु महाकाव्य में इस प्रतिनिधित्व गुण के अतिरिक्त एक गांभीर्य होता है, जिसे गहनता, सर्वतथ्य-ग्राह्यता भी कह सकते हैं परन्तु जिनके अभाव "लोकायतन" और "उर्वशी" दोनों में हैं।

अधिक से अधिक "लोकायतन" को "भूमिकाव्य" (भूमिका + महाकाव्य) और "उर्वशी" को गीतिनाट्य ही कहना उपयुक्त होगा।

६. आधुनिक हिन्दी कविता पर पाश्चात्य प्रभाव

यदि आधुनिक हिन्दी कविता समसामयिक, समकालीन या वर्तमान कविता का पर्याय है, तो इसकी आयु दस वर्ष या बारह वर्ष की ही कही जायेगी अर्थात् 'तार सप्तक' के द्वितीय भाग के प्रकाशनोपरांत से। परन्तु यह बड़ा ही संकुचित बोध होगा क्योंकि आधुनिकता काल की समसामयिकता भर ही नहीं है और न बिलकुल ही नवीनता का पर्याय है, न यह बीसवीं सदी की ही प्रमुख विशेषता है। पश्चिमी देशों में तो इसका आविर्भाव तब हुआ था जब राजा चार्ल्स को खुले आम सूली दी गयी थी, फिर जब इसके डेढ़ सौ वर्षों बाद फ्रांस में सत्ता के विरुद्ध बगावत हुई, और पिछली सदी में जब रेल की पटरियां बिछीं थीं, डारविन का प्रादुर्भाव हुआ था और उन्नीसवीं सदी के अंत होते-होते मार्क्स और फ्रायड ने सामाजिक और मानवीय जीवन की रूपरेखा बदल दी थी और फिर अपनी सदी में जब आकाश में हम उड़ने लगे और फिर जब हमने दो बार विश्व युद्ध किये, प्रलयंकारी बम फोड़े, काल, दिशा और परिधि को तोड़ डाला। पाश्चात्य साहित्य से सिर्फ अंग्रेजी साहित्य नहीं समझें; दरअसल अंग्रेजी साहित्य का अगुआ फ्रेंच साहित्य रहा है और जर्मन, स्कैण्डनेवियन, इत्यादि साहित्य में भी चेतनाएं उन्मुक्ततः व्यक्त हुई हैं। इसलिये, हिन्दी साहित्य और पाश्चात्य साहित्य के प्रभावात्मक संबंधों की समीक्षा बड़े ही व्यापक पैमाने को ढूँढ़ती है। हिन्दी का भी आधुनिक साहित्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से शुरू होता है

जब ब्रजभाषा में लीला-कीर्त्तन न भज कर कवि ने सामाजिक आर्त्त क्रंदन और उद्‌बोधन किये थे। यदि आधुनिक हिन्दी कविता को हम इतने विस्तृत प्रेक्ष्य में न देखें, तोभी इसकी बदलती काया और चंचल माया की पहचान करने में नव-नव खोज, स्थापना, क्रांति को समझना पड़ेगा ही। और जिस प्रकार अंग्रेजी साहित्य में, कथा साहित्य में विशेषतः आधुनिकता टॉमस हार्डी के विरोध-मूलक उपन्यासों से शुरू होती है, जॉयस, लॉरेंस, डॉस पेसस, वूल्फ में आकर सभी सीमाएं, चेतना, मर्यादा, रेखांकन, चित्रण को क्रमशः तोड़ देती है, उसी प्रकार हिन्दी साहित्य में, कविता में आधुनिकता का प्रादुर्भाव भारतेन्दु के बाद सन् १९१६ ई० में होता है, जब निराला की 'जुही की कली' निकली, जिसके कुछ ही वर्षों पहले अमरीका में ह्विटमन द्वारा काव्य और फ्रांस में भी काव्य छन्द से मुक्त हुआ था। हिन्दी काव्य की आधुनिकता निराला में शरीर और आत्मा दोनों दृष्टियों से सदैव विद्यमान रही और कौतूहल उत्पन्न करती रही, बहुत कुछ विरोध भी परन्तु आधुनिकता की आत्मा, फ्रायड, मार्क्स, डारविन के विराट् और अगोचर परन्तु अमिट प्रभाव में आंशिक और लघुमात्रा में गुप्त, हरिऔध, त्रिपाठी में भी देखी गई जब प्रथम ने उपेक्षिता को प्रश्रय दिया, दूसरे ने कृष्ण को अलौकिकता से मुक्त कर दिखलाया और तीसरे ने स्वातंत्र्य-संग्राम-पथ पर अग्रसर नायक की यात्रा गाई, यहां तक तत्कथित छायावाद की अशरीरी कल्पना और मायावी रंगीनी में भी जिज्ञासा और कौतूहल के पीछे आधुनिक युग के विशिष्ट तथ्य, प्रश्न पूछने के तथ्य, की छाप स्पष्ट दीख पड़ी थी। जब इन्हीं कवियों में कवियों ने सिगरेट के डिब्बे, भैंसागाड़ी की चरमर, तेल की पकौड़ी पर कविताएं लिखीं और कुछ भाव-विह्वल, जोश भरे कवियों ने परतंत्रता के विरोध में सरफ़रोशी तराने लिखे,

तो मार्क्स, हेगल, लेनिन की बांसुरी निकट से सुनाई पड़ने लगी थी। यह सब आधुनिकता ही थी और है, लेकिन जिस आधुनिकता से हमारी पीढ़ी, अर्थात् सन् १९२८–३० में जो पीढ़ी जन्मी थी और जो अभी प्रौढ़ हो चुकी है, उस पीढ़ी को संबंध है, वह उपरोक्त मीमांसा में समाविष्ट नहीं दीख पड़ती है। हिन्दुस्तान की इस पीढ़ी ने होश सम्भाला तब जब महासमर के मलबे पर, ब्रतानिया सरकार के मलबे पर और वंशजात जन्मजात अधिकार के मलबे पर नवनिर्माण हो रहा था, और साथ ही भय, आशंका, अस्तित्व-चिंता भी उत्पन्न ही नहीं हो रही थी बल्कि प्रगाढ़ होती जा रही थी, इसमें एक ही वस्तु प्रिय हो चली, स्वत्व की रक्षा, शरीर और आत्मावाले स्वत्व की चिंता। आधुनिक हिन्दी कविता, सन् १९५० से लेकर सन् १९६६ तक की कविता इसी स्वत्व की चिंता की कविता है। यह स्वत्व कवि के निजत्व से बहुत अधिक अलग नहीं है और यह चिंता कच्छप-प्रवृत्ति सी है, आवश्यकता भर नथुने निकाल कर समाज से सम्पर्क और अधिकांशतः अपने ढंकन, खाल के भीतर ही जीवन-यापन; इसलिये, स्वत्व के ममत्व इसमें अधिक हैं, यदा-कदा समाज की चिंता, मानव जाति की चिंता या काल, दिशा की परिधियों से ऊपर उठने की चिंता,—कुंवर नारायण के 'आत्मजयी' नामक काव्य में स्वत्व का परिवेश बढ़ा है—व्यक्त होती है परन्तु स्वत्व कभी नहीं छूट पाता है। पाश्चात्य प्रभावों में अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव अधिक रहा है चूंकि इसी साहित्य से भारतवासी घुल-मिले एवं परिचित हैं और मौलिक साहित्य का विशेष प्रभाव पड़ता है, अनूदित का कम। फ्रेंच, जर्मन, स्कैन्डनेवियन, नार्वेन, रूसी, लैटिन, ग्रीक साहित्य के भी प्रभाव परोक्ष रूप से, अंग्रेजी साहित्य के माध्यम से, पड़े हैं, यह ठीक है परन्तु व्यापक और स्पष्ट, सीधा तथा गाढ़ा प्रभाव अंग्रेजी का ही पड़ा है।

आधुनिक कविता के प्राण हैं मैं, क्यों, कैसे, हैं, विवेक भावों को कुरेदता; न कि छंद इन्हें बांधता, जिसके बोल हैं जनसमूह के, न कि पंडितों के और जिसके प्रतीक हैं विद्युत, वाष्प, वात न कि चांदनी या चकोर, जिसके नयन हैं विस्फारित और चंचल, न कि निरा मुग्ध और जिसकी आत्मा है उद्वेलित, शंकित न कि स्थिर और गंभीर, यह कविता 'कुकुरमुत्ता', 'नये पत्ते', 'इत्यलम', 'चिता', 'हरी घास पर क्षण भर', 'तार सप्तक' से गुजर कर आई है और इस पर ह्विटमन, ऑडेन, स्पेंडर, डायलन टाम्स के उग्र भाव हैं, इलियट की मानसिकता का विशेष कर, एजरा पाउण्ड की साहसिकता का, जॉयस और वूल्फ उपन्यासकारों की चेतना-स्वच्छंदता का।

हरिऔध के 'प्रिय-प्रवास' का अतुकांत हमारे संस्कृत काव्य के अतुकांत पर आधारित था, उनके अन्य प्रयोग, चुटकुले, चोखे चौपदे के प्रयोग में भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र-युग का प्रभाव है। हिन्दी काव्य में, आधुनिक काव्य में, तीन ही प्रयोगशील कवि हुए हैं—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, काव्यगत विषय में, चेतना में परिवर्तन उन्हीं की देन है, हरिऔध, जिन्होंने खड़ी बोली, उर्दू और हिन्दी, तत्सम और तद्भव, संस्कृत और देशज शब्दों से हिन्दी कविता को शक्ति-सम्पन्न किया और निराला, जिन्होंने काव्य के धरातल को फोड़ कर, मानो नारियल के कठोर आवृत्त को तोड़ कर हिन्दी कविता का सलिल बहा दिया जिससे उनकी प्रति रचना में अभिनवता थी। भवानी प्रसाद मिश्र इधर प्रयोगशील कवियों में गिने जा सकते हैं, अज्ञेय तो हैं ही परन्तु इन सब की प्रेरणा उपर्युक्त कवियों की पृष्ठभूमि में ही प्रतिफलित हुई है, यह सत्य है। लेकिन आधुनिक कविता ने जो मुक्त, स्वच्छंद स्वर दिये हैं, वे किनकी देन है? पाश्चात्य काव्य की! बिल्कुल स्पष्ट!! उसका

संस्कार ह्विटमन से जुड़ा है, संस्कृत या अन्य भारतीय भाषाओं से नहीं। आधुनिक कविता का शिल्प बिल्कुल ही पश्चिमी है।

नई कविता--अंक १, २, ३, ४, ५, प्रकाशन १६५४, ५५, ५६, ५६ शब्द दंश (जगदीश गुप्त), हरी बांसुरी सुनहरी टेर (सुमित्रानंदन पंत), दर्द की मीनार (कृष्ण नंदन पीयूष), समानान्तर सुनें (शांता सिन्हा—१६५८), चतुर्मुखी (ब्रजकिशोर नारायण—१६६४), अरी ओ करुणा प्रभामय (अज्ञेय—१६५६), क्वार की सांझ (रामनरेश पाठक), आत्म बोध (नृपेन्द्र नाथ गुप्त —१६६५), हिन्दी रुबाइयां (नीरज—१६६३); सांप्रतिकी (डा० वीरेन्द्र श्रीवास्तव—१६६४), उद्गम (परदेसी—१६६४), गीतफरोश (भवानी प्रसाद मिश्र—१६५६), अनुपस्थित लोग (भारतभूषण अग्रवाल—१६६६), अनुक्षण (प्रभाकर माचवे—१६५६), कविताएं (कीर्ति चौधरी—१६५८), गर्जना, गीतांकुर (परदेसी—१६६५), पत्र-पत्रिकाओं, कुल मिला कर दस हजार कविताओं को आधार माना जा सकता है।

इन चर्चित संग्रहों और दस हजार कविताओं के मनन से आधुनिक कविता का प्रवाह चेतनानुकूल दीख पड़ता है जो स्वयं अभिव्यक्ति की सशक्त उपलब्धि है। अंग्रेजी साहित्य में भी एजरा-पाउण्ड के "कैन्टोज", इलियट के "दी वेस्टलैण्ड", "प्रुफ्रोक", ई० ई० कमीन्गास की "चान्स इनोसेन्स" रचना, एलेन टेट की कविता "ओड टू दी कनफिडिटेंटडेड" जिसमें उसने इलियट की तरह एक कब्रगाह में ठिठकर संपूर्ण मानवेतिहास, वर्तमान और विगत की कल्पना करते हुए नायक का सृजन किया है और जो सन् १६३७ में प्रकाशित हुई थी, जॉन फ्रेड्रिक नीमस की 'वेन्नी आरकेड" कविता (१६४७), डायलन टाम्स की 'विंटर्स टेल', 'लाइट ब्रेक्स व्हेयर नो सन साइन्स', डेविड गेस्कौन की "मिजरी" रचना, माइकेल रावर्ट्स की 'दी वर्ल्ड एण्ड', "शाइनिंग डार्क",

इडिथ सिटवेल की "व्हेयर सर बीलजिंव", "स्टिल फौल्स दी रेन", आइजक रौजन वर्ग और एलैन गिन्स वर्ग की बहुतेरी रचनाओं में आधुनिकता का प्रतिनिधित्व है।

शिल्प के दूसरे अवयव, बिम्ब-विमान पर भी पश्चिमी प्रभाव ही हैं। वीलसन नाइट ने 'दी ह्वील आफ फायर' में शेक्सपीयर के नाटकों का मूल्यांकन बिम्बों की सज्जा में ही किया था। प्री रेफलाइटस् की तरह "इमेजिस्ट" धारा इस सदी में सफल रही। इनमें प्रमुख कवियों, कवयित्रियों के नाम है, डी० ई० हल्मे दाभो लाक्स, एफ० एल० प्लींट, एच० डी० आल्डीन्गटन, इलियट और एजरा पाउण्ड। "इमेज" मूर्ति का पर्याय है और मूर्ति किसी मूल की छाया होती है। इसलिये इसे बिम्ब भी कह सकते हैं, यद्यपि इस शब्द में मूर्ति की पार्थिवता, अमूर्त्त की पार्थिवता, नष्ट हो जाती है और छाया बस छाया भर ही रह जाती है। चित्रात्मकता या मूर्त्तता आधुनिक कविता में आडम्बर और प्राण दोनों है। सह-गायक कवियों ने इसे आडम्बर रूप में ही ग्रहण किया है जहां प्रवर्तकों और उन्नायकों ने प्राण रूप में ग्रहण किया है चूंकि उनकी प्रतिष्ठा और कल्पना इन्हीं में अंट सकी है। इलियट की जगत्प्रसिद्ध पंक्ति—

"टेबुल पर इथर से बेहोश किये रोगी की तरह आकाश में संध्या फैली हुई थी"—

ने खुद ही बहुत-सी कविताओं को प्रभावित किया है, जन्म दिया है। इलियट की कल्पना, प्रथम विश्व युद्ध के बाद की कल्पना, एक रूपक, एक बिम्ब में ही सघनतः उतरी थी जब उसने तत्कालीन निराशा को अर्थात् टूटी हुई मूर्तियों के ढेर को "वेस्ट लैण्ड" में प्रतिष्ठापित किया था जिसमें वर्तमान विगत से असम्बद्ध था और सम्बद्ध भी। और यद्यपि इलियट ने नैराश्य से

आशा की ओर प्रगति की, आध्यात्मिक उत्कर्ष को बाद में प्राप्त किया, तथापि उसके बहुतेरे समकालीन कवियों और अनुयायिओं ने, हमारे यहां के कवियों ने, केसरी कुमार, नलिन विलोचन, नरेश, भवानी प्रसाद मिश्र, माथुर, भारतभूषण अग्रवाल, भारती, जगदीश गुप्त ने मस्तिष्क की दुनियां में, नैराश्य, कुंठा के कुहरे में ही घेर कर अपने को देखा। और चूँकि सभी प्रतिभासंपन्न शास्त्रकारों में प्रगति होती है, शिल्प और चेतना दोनों में, इसलिए वर्तमान कवियों की अवसाद कुंठा-आत्म-पीड़न—प्रवृत्तियों में उनके व्यक्तित्व और कवित्व का ह्रास है। "आत्मजयी", "दीपाराधना" में उससे उठने की छटपटाहट है परन्तु राज कमल चौधरी के "मुक्ति प्रसंग" (१९६६) में तो यह प्रवृति बिल्कुल ही म्रियमान बनकर रह जाती है। यही कारण है कि आधुनिक कविता अर्थात् वर्तमान कविता, नई कविता, अकविता में ह्रास इतना जल्द आ गया है और काव्य का एक शाश्वत और साथ ही अनेक व्यूहों से गुजरकर प्रकट नई विधा—गीत, नवगीत—में प्राणवंत अभिव्यक्तियां अब आ रही हैं।

इलियट के "हॉलोमेन" के अनुरूप भवानी प्रसाद मिश्र की "मामूली लोग" नामक कविता है :

हम मामूली लोग
इस दुनियां के रोग
या दुनियां हमको रोग ?
हम डरे हुए,
हम मरे हुए,
हम पानी से हीन कुएं ?
एक भी हाथ,
न अपने साथ

अंध-अंधियारे हम ,
मकड़ी के जाले हम—

भवानी प्रसाद मिश्र की पंक्तियां भी "हॉलो मेन" के अनुरूप ही चलती हैं, छोटी-छोटी भाव-तरंगों के अनुकूल, परन्तु जहां इलियट ने सन् १९२५ ई० में अपनी वह कविता लिखी थी या "वेस्ट लैण्ड" भी उसी काल में लिखी थी, वहां हमारी कविता, अब तक की कविता उसी भाव-पक्ष, चिंतन-पक्ष को पकड़े हुयी है। आज की हिन्दी कविता का ह्रास ह्विटमन के रबड़ छन्द या इलियट, रोजनवर्ग के बिम्ब-विधान की नकल में नहीं है वरन् काल, क्षेत्र और चेतना की बनावटी और अप्रगतिशील स्थिति में है। राजकमल चौधरी ने तो मृत्यु की प्रेरणा को अक्षरशः कबूल किया परन्तु खुद एलेन्स ग्रीन्सवर्ग की प्रभावान्विति स्वीकार कर। आइजक रोजनवर्ग की आदि कविताओं में एक भय और आशंका का ही वातावरण अमर रहता है। अगर रूपक, बिम्ब की योजना ही के अनुरूप हम आधुनिक काव्य का परीक्षण करें तो देखेंगे कि इनमें "कैक्टस", "रेत", "चूहा", "गंदी नाली के कीड़े" "जलती सिगरेट के टुकड़े" की पुनरावृत्तियां हुई हैं। इनके अनुकूल ही हमारी कविताओं में ये रूपक और बिम्ब खूब व्यवहृत हुए हैं, आप इन्हें गिनकर देखें।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह नहीं भासित है कि हिन्दी की आधुनिक कविता निष्प्राण है और केवल नकल पर ही उतरी रही है। इसकी उपलब्धियाँ भी हैं। प्रथम तो इसने चेतना और व्यक्तीकरण में स्वाभाविकता, प्रांजलता और एकता लाई, द्वितीय, इसने काव्य में ठोसपन लाया है, जैसी चेतना वैसी ही तस्वीर और तीसरे, उसने शब्दों की पहचान की। ध्वनि, संगीत से प्रेषण को सफल किया है और चतुर्थ विवेक के पुट से चिंतन एवं

परीक्षण से, आत्मनिरीक्षण एवं विवेचन से काव्य को जीवित किया है, सिर्फ स्वप्न, 'यूटोपिया", और परियों के देश की ही सर्जना नहीं की है।

सबसे गहरी छाप, पश्चिमी छाप, जो आधुनिक कविता पर पड़ी है, वह है इसकी आत्मा पर। इसलिये, यह देशज नहीं है। पश्चिम में इनके ही समीक्षकों के अनुसार, ४० वर्षों में १० वर्ष युद्ध में बीते और दस वर्ष आर्थिक ह्रास और मंदी में और शेष विनाश के भय में, उस पर उनके यहां नव-नव आविष्कार घटित होते रहे जिससे धार्मिक और आध्यात्मिक शक्तियों में आस्था घटी। इसलिये मलबे पर बैठे इलियट ने बंजर भूमि देखी, अनास्था की कुंठा मूर्त्त की। उनके यहां व्यक्ति के उत्थान में व्यक्ति का योग नहीं दीख पड़ा, समष्टि का योग केवल दीख पड़ा और समष्टि या तो जर्जर रही या आतंकित रही, तदनुकूल व्यक्ति भी कुंठित रहा। इबसन, मार्क्स, हेगल, शॉ की मान्यताओं में व्यक्तिगत संघर्ष नहीं था, समष्टिगत कोलाहल था। इसलिये अवसाद और कुंठा को प्रश्रय मिलना स्वाभाविक था। हमारे देश में इन चालीस वर्षों में स्वातंत्र्य-संघर्ष हुए परन्तु उसमें व्यक्ति का ही उत्थान हुआ, धनवानों ने धन छोड़ा, विद्वानों ने विद्यालय, पेशेवरों ने पेशा और त्याग के माध्यम से समाज को आगे बढ़ाया, जन्मसिद्ध अधिकार मांगा। हमारे यहां युद्ध नहीं हुआ और पश्चिमी युद्ध में खेत आये मानवों में भारतीय पुरुषों की संख्या बहुत न्यून थी, वह भी उनकी ही थी जिन्होंने प्राणाहुति दी थी पैसे लेकर। हमारे यहां सामाजिक कुरीतियों और आर्थिक विषमताओं से संघर्ष हुये पर इनका भार ढोया संतों ने, योगियों ने, और त्यागी, विरागी राजनीतिज्ञों ने। और हमें अनिर्वचनीय सफलता मिली, विना बन्दूक और गोले के। सिर्फ १००० आदमियों की बलि

देकर चालीस करोड़ लोगों की स्वतंत्रता मिली, अहिंसा, विश्व-बंधुत्व को आदर मिला, हां साम्प्रदायिक संघर्ष से इस सफलता को धक्का लगा परंतु मनुष्य की शाश्वत अच्छाइयों और विजित होनेवाली बुराइयों की स्थापना डिगी नहीं बल्कि इसी के अनुरूप शांति आई, सौहार्द्य पुनः स्थापित हुआ। फिर घुटन, पीड़न क्यों? वह उधार ली हुई प्रेरणा है, वह आधुनिकता का भ्रम है, वह पश्चिमीकरण है, वह भारत की उपजी भावना नहीं है। हमारे यहां व्यक्ति की महिमा चिरकाल से ही नहीं आदिकाल से ही स्थापित एवं फलित रही है, कैसा भी विषाक्त, जर्जर वातावरण क्यों न रहा हो, राम, कृष्ण, बुद्ध, अशोक, हर्ष, पृथ्वीराज, प्रताप, शिवाजी, गोखले, तिलक, गांधी, नेहरू, राजेन्द्र, सुभाष के व्यक्तित्व मनगढंत नहीं रहे हैं, हकीकत रहे हैं। इसलिये, "गंदी नाली के कीड़े", 'जलती सिगरट के टुकड़े', 'कैकटस', 'चूहा' आदि के बिम्बों या रूपकों में हमारी संस्कृति, जनतंत्री नहीं ध्वनित हुई है, पुनतक वह भी पश्चिमी पुस्तक ही प्रतिध्वनित हुई है। हमारे बहुतेरे आधुनिक एवं वर्तमान कवियों ने अपने समाज, अपनी संस्कृति, अपने ही देश से पलायन किया है, मस्तिष्क के मकड़ी-जाल बुनने भर में, यही बात उठती पीढ़ी और भावी पीढ़ी कहेगी। राजकमल चौधरी या मुक्तिबोध ने रोजनबर्ग या ग्रीन्सबर्ग या लारेंस या पाउण्ड या इलियट की तरह भले ही कुछ कवितायें लिखी हों परन्तु वह अपने निकट के काल और समाज से कटी ही कविता प्रस्तुत रही है। आत्मग्लानि, आत्मपीड़न, आत्म-सिहरन सभी निरर्थक ही हैं यदि ये आत्मपरीक्षण न होकर आत्म-उन्नयन न हुए। आधुनिक कविता पश्चिमी है, खोखली है, इसलिये ही। जहां अंग्रेजी आलोचकों ने, "मॉडर्न पोयट्री" के संपादकों ने स्पष्टतः कहा कि उनकी समकालीन, आधुनिक कविता वड्सवर्थ की कविता से

भिन्न इस प्रकार थी कि इसने रोग को पहचान की, उनके समान कोई नुस्खा नहीं दिया अर्थात् वड्सवर्थ की तरह प्रकृति में संजीवनी नहीं ढूँढ़ी, शेली की तरह झंझा में, प्रोमिथियस में क्रांति नहीं संजोई, वहां उनकी उक्ति समीचीन रही चूँकि इसमें उनके जीवन-दर्शन, उनके युग-युग के संबंध थे। परन्तु इस मापदण्ड से न हम अपनी कला, न अपनी कविता की तजवीज कर सकते हैं।

चूंकि चेतना मूलतः उधार ली गयी है, और वह भी ४० वर्ष पहले की चेतना है, इसलिये हिन्दी कविता में अभिव्यक्ति न 'वेस्टलैण्ड' न 'कैन्टोज' के समान सशक्त हो सकी और उसमें जो चित्र आये, वे प्रगाढ़ नहीं रहे। "मॉडर्न पोयट्री" (१९५०, १९६१) नामक संग्रह के संपादकों—मेनर्ड मैक्कल्योनर्ड डीन तथा विलियम फ्रॉस्ट के अनुसार काव्य-क्षेत्र में क्रांति तीन तथ्यों को लेकर आती है : छन्द, भाषा, और रूपक। ये बिल्कुल ठीक विश्लेषण भी हैं। अपने यहां भी ऐसी क्रांति देखी गयी है : छायावादी कवियों में प्रसाद, पंत, महादेवी ने १४-१६-१८ मात्राओं में अधिकतर कविताएं लिखीं, ललित और कमनीय शब्दों का प्रयोग किया और निरंतर अपने प्रिय बिम्बों का प्रयोग कर अपने प्रेषण को सक्षम बनाया। सिर्फ निराला इसके अपवाद थे, उनकी हर रचना तीनों क्रांतियां नूतनतः प्रकट करती थी : "जूही की कली" का मेल "राम की शक्ति पूजा" से नहीं था, 'गीतिका' और 'कुकुरमुत्ता' की शब्दावली भिन्न रही। परन्तु निराला की प्रतिभा असाधारण थी और सम्पूर्ण आधुनिक काव्य में बेजोड़, निराला का काव्य-बोध युग-बोध भी रहा स्वतः विकसित। 'माडर्न-पोयट्री" के संपादकों के विश्लेषण में एक तथ्य की कमी है, वह यह कि चेतना को ग्रहण कर तथा उभार कर भी क्रांति काव्य में आती है। खुद अंग्रेजी काव्य में भी ऐसी क्रांतियां घटित हुयी हैं। सोलहवीं

सदी अर्थात् शेक्सपियर, बेकन और फिर सतरहवीं सदी की शुरूआत में बेन जॉनसन आदि कवियों में, प्रणय-काव्य के क्षेत्र में जो अंतर था, उसके पीछे केवल छंद, भाषा और रूपक की स्थूलता और बारीकी का ही अंतर नहीं था वरन् जीवन को सहज रूप से तथा उसी जीवन को कुरेदकर अनुभव करने की क्षमता का अंतर था और फिर एक ही सदी में बेन जॉनसन और जॉन डन्न में अंतर आ गया, व्यक्तीकरण बिल्कुल ही सूक्ष्म हो गया, सोलहवीं सदी की उपमा बेन जॉनसन में प्रतीक बन गयी और फिर डन्न में आकर बिम्ब और यही नहीं, इन कवियों की चेतना में धार्मिक और आध्यात्मिक अंतर आ गया। विवेक का सम्मिश्रण काव्य में ऐसा होता गया कि उन्मादिनी भावना जो सोलहवीं सदी में दीख पड़ी थी अठारहवीं सदी में कट-छँट कर बिल्कुल चिंतन हो गयी, निर्झरिणी मानो शुष्क हो गयी और फिर उन्नीसवीं सदी में वड्सवर्थ, शेली, कीट्स, बायरन के द्वारा इस विवेक के दबाव को पुनः स्वच्छंदता, भावों, सुन्दर दृश्यों के आंकने और अनुभव करने की स्वच्छंदता ने ढाह दिया जब फ्रांस में सत्ता के विरुद्ध बगावत हुई और मानव-मानव का महत्व स्थापित एवं निनादित हुआ। और फिर "रोमांटिक पोयट्री" के बाद "प्री रेफलाइट्स" की और फिर इसी सदी के उत्तरार्ध में टॉमस हार्डी की प्रश्नात्मक अभिव्यक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ और संसार की नयी आवाजों, मानव-इतिहास, मानव-समाज और मानव-जीवन, डारविन, मार्क्स और फ्रायड की आवाजों के प्रभाव में चिंतन, आत्म-परीक्षण और आध्यात्मिक पूर्वीय गायन सुन पड़े, डब्लू० बी० यीट्स जिस चेतना के मूर्त कवि थे और फिर इलियट, पाउण्ड और इनके बाद ऑडन, स्पेन्डर, डायलन टॉम्स, एवरहर्ट, आइजक रोजनवर्ग, एलेन गिन्सबर्ग आदि कवियों द्वारा नैराश्य, यौन, आस्था के संघर्षजन्य पद्यों की

रचना हुई जिसमें युग था, छंद, भाषा और रूपक की नवीन-नवीन सज्जा थी।

आधुनिक हिन्दी कविता ने सन् १९१६ से लेकर १९६६ तक अर्थात् ठीक पचास वर्षों में या 'जूही की कली' से लेकर 'अनुक्षण' तक, छंद, भाषा और बिम्ब-विधान में उथल-पुथल लायी है जिसके कारण न आज वर्णिक छंद हैं न मात्रिक छंद हैं, न "प्रिय प्रवास" की शब्दावली है न "पल्लव" न "गुंजन" की कोरी 'सा' 'रे' लहरी है और न उषा, संध्या, पत्तियों की सज्जा ही है वरन् एक चेतनानुकूल व्यक्तीकरण है, समादृत एवं अनादृत दोनों शब्दों का प्रयोजन है और चित्र, अचित्र का चित्रण है, परन्तु क्रांति जिस चेतना को उभारकर लाती है, उस चेतना के कलरव में आधुनिक, वर्तमान, समकालीन हिन्दी कविता अक्षम है जहां अंग्रेजी कविता सक्षम रही और इसलिए मूलतः वह कविता अधूरी है। इधर दो वर्षों से बच्चन, दिनकर आदि कवियों ने नवीन सज्जा को अपनाकर कविताएँ लिखी हैं जो प्रधानतः अक्षम ही रही हैं लेकिन माखनलाल चतुर्वेदी, रामेश्वर शुक्ल अंचल, सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा, भगवती चरण वर्मा आदि प्रौढ़ और जीवित कवियों ने पौराणिक, चिरकालिक छंदों में ही, परिमार्जित शब्दावली में ही, सहज स्वाभाविक रूप में ही अपने को सफलतापूर्वक व्यक्त किया है और कविता के वाह्य उपकरणों में कोई रूपान्तर न लाया है। इस दृष्टि से तत्कथित वर्तमान कविता या अकविता हिन्दी काव्य के चौखम्भों को छू न पाई है। और यह स्थापित है कि बच्चन और दिनकर प्रथम श्रेणी के कवि नहीं हैं, मूलतः भावोन्मादी, रसोद्रेकी कवि हैं, या तो साकी या सरकफनिया और यद्यपि चेतनाओं को व्यक्त करने के लिये ये उद्यत रहे हैं तथापि चार तथ्यों में जहाँ दिनकर को सिर्फ अढ़ाई तथ्य ही हासिल हो सके हैं, बच्चन को ढेढ़ तथ्य ही।

*

७. कविता : परीक्षा : परिभाषा : सौ प्रश्न : एक उत्तर।

कविता क्या है ?
कविता के अवयव क्या हैं ?
कविता और कल्पना का क्या संबंध है ?
कविता और अनुभूति में अन्योन्याश्रिता कितनी है ?
कविता क्या सर्वोपरि है कलाओं में ?
कविता और गद्य में अंतर है क्या ?
कविता अब फीकी हो गई है क्या ?
कविता का अवमूल्यन क्यों होता रहा है ?
कविता और विज्ञान प्रतिरोधी हैं क्या ?
रूपक क्या है ? बिम्ब क्या है ?
कविता की लय संगीत की धुन है क्या ?
कविता पच्चीकारी है क्या ?
कविता क्या वैसी ही शब्द-कला है जैसी चित्रकला होती है ?
कविता का भविष्य क्या है ?
कविता का छंदबद्ध होना जरूरी है क्या ?
कविता के लिये रूमानी और कोमल, कंठ में
खरोंच न पैदा करे वैसे शब्द ही उपयुक्त हैं क्या ?
कविता और प्रकृति में क्या संबंध है ?
कविता में व्यक्त चेतना सिर्फ आध्यात्मिक होती है क्या ?
कविता कोई हुनर है क्या जो सचेष्ट होकर साध ली

जा सकती है ?

कविता में रस किसे कहते हैं ?

कविता कोई पृथक व्यक्तीकरण ही है क्या ?

कविता वक्तृता है क्या ?

कविता के उपकरण क्या हैं ?

कविता की शाश्वता क्या है ?

कविता के लिये युगीन होना कविता की रसिकता के लिये घातक है क्या ?

ये पच्चीस प्रश्न हैं और इन पच्चीस प्रश्नों के चार-चार उप-प्रश्न हैं ? कहते हैं; परिभाषा के रूप में प्रश्नों के उत्तर देना कठिन ही नहीं अपितु असंभव कार्य है ।

२

दीपावली, सन् १९६५ ई० के अवसर पर तीन कविताएँ छपी थीं 'धर्मयुग' में : कवि थे माखनलाल चतुर्वेदी, केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', रामधारी सिंह 'दिनकर' । इनकी जोरदार पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

साहस, श्रम, संयम, स्नेह और कुरबानी
इस दव पूजन कर रही नवीन जवानी ।
बहिन सैनिका, सैनिक है हर भाई,
जिसने बन्दूकों को राखी पहनाई !
अब नहीं दिवाली रही दीप की माला
अब टैंकों और गनों में इसकी ज्वाला ।
रह-रहकर बंशी की बना रही रण-डंका
भैरव रव में गूँजा है स्वर पंचम का ॥

—माखनलाल चतुर्वेदी

कल फिर प्रकाश होगा
कल फिर हमारी ज्वाला से
लाल आकाश होगा।
कल फिर नया इतिहास होगा।

× × ×

छेड़ा हुआ नाग,
उगल रहा आग
आगे का पथ ?
कल फिर हम सन्धान देंगे

—प्रभात

हथियारों नहीं, मर्दों के गीत गाओ।
अरे गाओ, अगर स्वर समर्थ है।
क्योंकि मर्द नहीं, तो हथियार लूले हैं,
मर्दानगी नहीं, तो लोहा व्यर्थ है।

× × ×

बन्दूकें हार गयीं,
मगर, टैंक नहीं टूटते हैं
लेकिन, वह देखो,
अबकी गोली की जगह
खुद मर्द छूटते हैं।
मगर तुम यदि पाँच सौ
वर्षों का युद्ध चाहते हो
तो तुम्हें वही मिलेगा—

—दिनकर

माखनलाल ने दस, प्रभात ने बारह, दिनकर ने सत्तासी पंक्तियों में एक ही भावना का गायन किया है परन्तु ये पंक्तियाँ रसभरी हैं या

नहीं, यह विवेचनीय है। यह स्मरणीय है कि इनतीनों रचनाओं में इन तीनों कवियों की शक्ति और सीमा स्वभावतः लक्षित हैं। हाँ, माखनलाल में कोई सीमा नहीं है, प्रभात और दिनकर में इनकी अपनी-अपनी सीमाएँ हैं। प्रभात की शक्ति इनकी महाकाव्यात्मकता में है, इनकी सीमा इनके प्रगीत में है। माखनलाल प्रौढ़ ही नहीं अविच्छिन्न, सफल, सच्चा काव्य सदैव लिखते रहे हैं। गांभीर्य प्रभात का, ओज दिनकर का अलग-अलग वैशिष्ट्य है। इसलिये, एक पृष्ठभूमि में माखनलाल को दस पंक्तियाँ पर्याप्त हुईं। वर्त्तमान की सभी लालसाएँ और कामनाएँ, प्रेरणाएँ और आहुतियाँ इन दस पंक्तियों में अँट गईं जहाँ प्रभात को अठारह पंक्तियाँ खपानी पड़ीं और दिनकर को तो महाविस्तार ही करना पड़ा। माखनलाल के प्रभाव सीधे हैं, स्पष्ट, निष्कपट; प्रभात के प्रभाव इसके निकट, पूर्णतः नहीं; दिनकर के नाद हंगामा मात्र। माखनलाल में गजल, रुबाई, उर्दू, वर्त्तमान, प्राचीन कविता के सारे स्पन्दन हैं, प्रतीक हैं। प्रभात में गद्य की थोड़ी रुखाई है; दिनकर में भी गद्य, उर्दू मुक्तक की, रुबाई की रवानी है, संवादीय आत्मीयता है परन्तु स्पन्दन प्रखर नहीं। यह एक विडम्बना है, चूँकि दिनकर मूलतः विप्लवी कवि रहे हैं, जोरदार विप्लवी। माखनलाल ताजे हैं, रहे हैं "एक पुष्प की अभिलाषा" से "अब नहीं दिवाली रही दीप की माला" तक, तरुण, सफल, निष्कपट, युगीन, चिरकालीन, पारखी। यह बात दिनकर और प्रभात के संबंध में बिना संशोधन और जोड़ के नहीं लागू की जा सकती है।

यही नहीं, इन तीनों रचनाओं में तीन पीढ़ियों के तीन प्रतिनिधि कवियों की प्रगतियाँ नापी जा सकती हैं। गुप्त-युग के माखनलाल हैं, प्रसाद-युग के प्रभात, पंत-युग के दिनकर। यह वर्गीकरण सिर्फ सुगमता के लिये नहीं है वरन् इनके कवित्व और

विकास के अनुकूल भी है। हाँ, विरासत की कड़ी सिर्फ माखन लाल ही हैं, न प्रभात, न दिनकर। और माखनलाल-सुलभ तरुणाई, शैली और रसोद्रेक की तरुणाई इस विरासत की स्वर-लहरी है जो माखनलाल की दस पंक्तियों में विद्यमान रहती परन्तु दार्शनिकता, प्रसाद-वर्गीय दार्शनिकता न प्रभात में; न ओजस्विता, बालकृष्ण शर्मा नवीन-वर्गीय ओजस्विता दिनकर में ही विद्यमान रहती है, वरन् शिथिल दीख पड़ती है बावजूद इन दो कवियों के उदात्त काव्यों के।

३

युद्ध के परिप्रेक्ष्य में साहित्यकारों या कवियों का कौन-सा दायित्व है? इसके उत्तर साहित्यकारों ने ही दिये हैं दो प्रकार से, एक युद्धानुकूल साहित्य की रचना कर और दूसरे, ऐसे साहित्य की ही रचना हो, यह मांग कर।

साहित्यकार क्या करता है? वह देश, विदेश, समाज में फैली हुई चेतनाओं को स्वर देता है और अपनी प्रतिभा, सूझ और अभिव्यक्ति-शक्ति के अनुरूप इन्हें मोड़ भी देता है। पेट भरने के लिये लिखे गये साहित्य की चर्चा यहाँ अभिप्रेत नहीं। मन को जो साहित्य आह्लादित एवं अनुप्राणित करता है, वह अभिप्रेत है। जब चारों ओर अग्नि-वह्नि खेल रही हो, तब साहित्यकार किसी कुटीर, कल्पना-लोक में ही बैठा नहीं रह सकता। यह वैसा ही होगा जैसा नीरो ने अपनी बाँसुरी बजाकर जलते, दहकते रोम नगर में किया था।

युद्ध-घोष, ललकार एक सामाजिक चेतना ही है। एक हकीकत। इसलिये, अपने देश में स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद चीन और पाक के साथ घटित संघर्ष ऐसी ही हकीकत थे और इनके

संदर्भ में सन् १९६२ ई० से लेकर सन् १९६५ ई० तक हिन्दी में, यों तो अन्य भाषाओं में भी, बहुत-सी कविताएँ आईं, बहुत से संकलन निकले जिन्हें युद्ध से उद्भूत नैसर्गिक व्यंजना ही कहेंगे। जिसे बहुतेरे या सारे लोग हृदयंगम करते हैं परन्तु जिन लोगों को इसे व्यक्त करने की समर्थ वाणी नहीं होती, उनको स्वर देना कवि का दायित्व है। जो लोग स्वर देने की क्षमता रखते हैं परन्तु जो निःस्वार्थ सेवा-परायण रहते हैं, जैसे रणबांकुरे जवान, त्यागी अफसरान, उनकी अपूर्व गाथा को आदर्श, प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित करने का भी उत्तरदायित्व साहित्यकार का ही होता है। इतिहासकार और साहित्यकार इस धरातल पर एक हो जाते हैं।

माखनलाल, प्रभात और दिनकर की कविताओं के विश्लेषण से युगीनता बनाम चिरकालीनता का साहित्यिक प्रश्न उठ खड़ा होता है, जो प्रश्न स्वतंत्रता तथा समाजवाद के आंदोलन के उपलक्ष्य में उठा था और जो दरअसल एक शाश्वत प्रश्न है भी। यह प्रश्न हिन्दी में छायावाद बनाम प्रगतिवाद के रूप में भीषणता से उठ खड़ा हुआ था। प्रगतिवाद का बोध समाजवाद से था। इधर जब समाजवाद आदि थिर हो चला है, जीवन, समाज, राज्य में घर कर चुका है, तब इस प्रश्न का मानो निदान भी हो चला है और अब काव्य में युगीनता अर्थात् चेतना की व्याप्ति कवच की हड्डी नहीं अपितु कंकाल में रक्त के रूप में स्थापित हो गई है।

पर बात वहीं खत्म नहीं हो जाती है। कोरी वक्तृता या ओजस्विता, कल्पना से केवल प्रसूत, ऊँचे साहित्य की निधि नहीं हो सकती है। यह एक सत्य है। और इसलिये बहुत-से काव्य या साहित्य रंगरेलियाँ भर ही रह जाते हैं यानी एक अवांछनीय

मौखिक प्रदर्शन, जिसकी अपेक्षा साहित्य को नहीं बल्कि जो ऊँचे और श्रेष्ठ साहित्य का नाशक होता है। सरहद पर या रणक्षेत्र में भीषण गोले, बारूद की वृष्टि में अपने कर्त्तव्य पर डटा हुआ सैनिक या अफसर या इनकी व्यवस्था में जुटा हुआ शासक ही इस कोटि के साहित्य का सच्चा, अनुभवी एवं कर्मठ प्रणेता हो सकता है। अंग्रेजी साहित्य ही को लें। चर्चिल ने द्वितीय विश्व-युद्ध को सम्भाला ही नहीं था बल्कि ब्रिटिश जनता को डूबो देने वाले महासागर से निकाल कर आस्थावान किया था। इसलिये, उनके युद्ध-संस्मरण अंग्रेजी गद्य के शृंगार हैं, रत्न हैं, बोलते प्राण हैं। इस विषय के अन्य साहित्य को उनकी रचना तिरोहित कर चुकी है। उस समय युद्ध-से प्रेरित अनेक गद्य-अंश एवं काव्य के सृजनकार इंगलैण्ड में वे हुये थे जो रण-क्षेत्र में डटे थे, जिन्होंने अवस्था और उम्र का कोई ख्याल न कर फिर से वर्दी पहनी थी, बंदूकें तानी थीं, चोटें सही थीं। कर्त्तव्य पहले, तब यश गाथा। अभी इस देश के साहित्यकारों में ये उदाहरण उपलब्ध नहीं हैं। सर्वोच्च साहित्य हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओं में तब ही फूटेगा जब हमारे रणबांकुरे सिपाही या इनके युद्ध-रत अफसर कलम लेंगे या जब हमारे कुन्तलराशि वाले कविगण या गद्यकार बंदूक लेंगे? यह सिर्फ साहित्य का ही तकाजा नहीं है, बल्कि साहित्यिक प्रवृत्ति का नैसर्गिक आदर्श है। इसलिये, साहित्यकारों द्वारा यह कह देना कि बांसुरी फेंको और बिगुल बजाओ आदर्श एवं कार्यान्विति का विरोधाभास है। कर्त्तव्यनिष्ठ कवि तो वह होगा जो बांसुरी ही नहीं फेंक देगा वरन् कलम भी फेंक देगा और संवार लेगा वर्दी, बन्दूक और सरहद से, रण-भूमि से लिख भेजेगा अपने तरानों को। इसका यह आशय नहीं कि अनुभूति के नाम पर कवि हत्यारा बन जाये जब

वह मैकबेथ नाटक लिखे। हाँ, यथासंभव और प्राप्य, सहजानुभूति एवं साहित्य सर्जना में जो एक रागात्मकता है, वह अभीष्ट है, बहुत हद तक संभाव्य भी है।

चीन-हमले या पाक-हमले की अवधि में कितने कहानीकारों, कवियों, समीक्षकों या अन्य साहित्यकारों ने देश-रक्षा के कार्यक्रमों में भाग लिया? बहुत हुआ तो जोशभरी या सरकफनिया कविता लिख डाली, पत्रकारों द्वारा चर्चित जीवन-दान के कुछ अंश उड़ा कर कथा लिख डाली या सरहद पर जाकर कुछ गलाबाजी की। पर इससे दायित्व का पालन अंशतः, न्यूनतः ही, एक तरह से नगण्य ही हुआ। हाँ, सभी साहित्यकार जवान बनने और संगीन उठाने की अवस्था के नहीं हैं या थे पर गृहरक्षावाहिनी, क्षेत्रीय सेवाओं या ऐच्छिक संगठनों में कितनों ने अपने नाम दर्ज कराये? हिन्दी में? एक भी नहीं, किंचित।

इसी मापदण्ड अर्थात् अनुभूति एवं साहित्य-सर्जना की संबद्धता के मापदण्ड से खड़ीबोली की कविता का परीक्षण, संपूर्णतः परीक्षण किया जा सकता है। जब द्विवेदी युगीन काव्य-धारा विद्यमान ही थी, तब ही इसकी प्रतिद्वन्द्वी धारा का भी अभ्युदय हो चुका था। यह धारा इसकी वस्तुवादिता के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में आई थी। जिस प्रकार अंग्रेजी साहित्य की काव्य-धारा ने १८ वीं सदी से १९ वीं सदी में प्रगति की थी, उसी प्रकार हमारी काव्य-धारा ने भी द्विवेदी-युग से छाया-युग में की और जिस प्रकार अठारहवीं सदी के काव्य में आत्मनिष्ठा और व्यक्तिगत अनुभूति का परिमाण लघु था, उसी प्रकार द्विवेदी युग में भी और छाया-युग में इनका उत्कर्ष हुआ। लेकिन साहित्य जीवनानुकूल होता है और इसलिये साहित्य-सर्जन के निमित्त जिस अनुभूति, साधना एवं निष्ठा का योग अपेक्षित है, उसका

आविर्भाव हुआ देश और समाज के हाहाकार को ध्वनित करने में, मदिर-तंद्रालस के बदले जीवन-तत्त्व को ग्रहण करने में। द्विवेदी-युग में भी देश और काल तगड़े थे, 'भारत-भारती' में तो ज्वलंततः या द्विवेदी-युग की आदर्शवादिता स्वयं एक बहुत बड़ी उपलब्धि थी। परन्तु जिस तीव्रता और सघनता की आवश्यकता थी, वह बहुत कुछ प्रतिफलित प्रगतिशील कही जानेवाली रचनाओं में दीख पड़ी। हाँ, अभी तक और तो भी प्रगतिवादी, प्रगतिशील, जनवादी, समाजवादी कविताएँ अनुभूति का वह दर्द, आह्लाद की वह मिठास न ला पाई हैं जो उदाहरणतः अंग्रेजी में रॉबर्ट बर्न्स की रचनाओं में पाई जाती हैं। वह दर्द या, मिठास अनुभूति से ही प्राप्य है। इसलिये राबर्ट बर्न्स की तल्लीनता हम में तब ही आयेगी जब हमारे दलित, पीड़ित, उपेक्षित, संघर्ष में जूझे वर्ग से ही कोई तेजस्वी जननायक, कवि जन्म लेगा।

४

युगीनता, चिरकालीनता का प्रश्न विश्व भर में समादरित और पुरष्कृत "गीतांजलि" के प्रणयन में विवेचित हो सकता है, इसलिये कि ऐसा सौभाग्य भारत की किसी भी अन्य रचना को अब तक प्राप्त न हो सका है और इसलिये भी कि इस काव्यांजलि में भारतीय चिंतन, दर्शन और संस्कृति के बड़े ही प्रतिनिधि पुष्प भरे पड़े हैं और ये पुष्प सामयिक, ऋतु-पुष्प ही नहीं हैं बल्कि अम्लान, नित नवीन एवं चिर प्राचीन पुष्प हैं, जड़ और चेतन, जीव और आत्मा, आत्मा और ब्रह्म, पुरुष एवं प्रकृति, माया एवं ईश्वर की शाश्वतता से प्रस्फुटित हैं। यही नहीं, इनका व्यक्तीकरण भी भारतीय प्रतीकावली और शब्दावली में ही हुआ है।

जहाँ 'गीताञ्जलि' सदियों पुरानी आर्य-वाणी को एक सरल एवं विचारोत्तेजक प्रतिध्वनि है, वहाँ यह घरेलू, अत्यन्त ही घरेलू कल्पना-चित्रों से पूर्ण है। इसकी शक्ति अपनापन के चित्रों में है। 'पोत', 'छोटी बाँसुरी', 'पक्षी' आदि ऐसे ही रूपक हैं जो यद्यपि पुराकालीन हैं फिर भी संगतियों से संपन्न। ठाकुर अपनी अभिव्यंजना शैली की इस प्रकृति से अवगत थे। उन्होंने कहा :—

मेरे गीत ने अपने अलंकरण त्याग दिये हैं।
उसे वस्त्राभारण का कोई अभिमान नहीं है।
अलंकरण तो हमारे (ईश्वर से) मिलन में बाधक होंगे,
वे तेरे और मेरे मध्य आ खड़े होंगे
उनके रणन-क्वणन (झंकार) में तेरी ध्वनि डूब जायेगी।

महान काव्य—सत्काव्य—को अलंकरण की आवश्यकता बिलकुल ही नहीं होती; कारण, अलंकरण कवि एवं पाठकों के बीच बाधा बनता है। कबीर ने अत्यंत लौकिक वाणी में उच्च भावों को गाया। कबीर जब कभी अपने तीव्रतम आवेगों को मूर्त्त रूप देना चाहते थे, तो वे अत्यंत घरेलू प्रतीकों का आश्रय लेते थे, यथा—'घूंघट के पट खोले, तोहे पीउ मिलेंगे।' दुल्हिन का अलंकार, अनुराग का अति सामान्य एवं आदिम रूप है, जो धनी एवं निर्धन, सभी के लिये समानतः हर्ष-प्रेरणा का जनक होता है। सामान्यतः कबीर रूमानियत और उच्छृंखलता से रहित हैं, परन्तु जब या कभी-कभी रूपक प्रयोग करते हैं वह मात्र दुल्हिन और दुलहे का होता है। कबीर और ठाकुर में विषय एवं प्रतीक दोनों का साम्य है। 'फूल पिरोए जा चुके हैं और दुलहे के लिये माला प्रस्तुत है। परिणय के पश्चात् दुल्हिन अपना घर छोड़ देगी और अकेली ही अपने प्रियतम से मिलेगी।' कबीर ने इस संसार को ससुराल

कहा है और परलोक को घर। मानव मात्र को—कोई आवश्यक नहीं कि उसका शरीर पुरुष का ही हो—दुल्हिन के रूप में तथा ईश्वर को दुलहे के रूप में मानने की भावना हमारी मिट्टी, आंगन की उपज है। यह भावना कवियों में अत्यंत विरक्त संत कबीर में बार-बार उमड़ आई है, यह दादू में है, यह रीतिकालीन कवियों में भरमार है, यहाँ तक भारतीय भषाओं के ह्रासोन्मुखी रूपों में कामोन्माद का नंगा नाच दिखाती हुई, श्लीलता के सारे बंधनों को चार-चार करती हुई एवं छद्म रूपकों में रति-बुभुक्षा के गीत गाती हुई प्रकट होती है। ठाकुर ने इसी प्रतीक को पुनः ग्रहण किया और 'गीताञ्जलि' ईश्वर से मानव के संबंध का 'एक विस्तृत रूपक' ही है, कभी-कभी ठाकुर अत्यन्त लौकिक, घरेलू और दाम्पत्य-रति-विषयक भी हो उठते हैं 'अपने सिर को मेरे वक्षस्थल पर टिका लो तथा मुझे अपनी मधुर ध्वनि सुनने दो।' अथवा 'वह आए तथा मेरे पार्श्व में बैठे, पर मैं नहीं जगी। कितनी अभागिनी-अभिशप्त निद्रा थी वह'? यही नहीं समस्त गीताञ्जलि में समुद्र, स्रोत, नौका, पोत, झंकार, वज्रपात, वृष्टि, निशा, अंधकार, प्रकाश, के प्रयोग बारम्बार हुये हैं एवं दृष्टांतों एवं रूपकों, भारतीय मनीषियों एवं कवियों द्वारा झंकृत संवेदनाओं के तार स्वर, मनन एवं उद्बोध से ठाकुर अपने आत्म-दर्शन के महत क्षणों को स्वर-बद्ध करते हैं। 'गीताञ्जलि' दिव्यशक्ति से एकाकार स्थापित करने का आवेगपूर्ण पुनर्गायन है। 'गीताञ्जलि' ईश्वर एवं मानव के घनिष्ठ संबंधों के बारे में ठाकुर का उद्गार है। इन गहन भावों को एक दूरानुभूति या विचार संक्रमण के रूप में लाया गया है, एतदर्थ ठाकुर ने एकदम घरेलू, चलते एवं चित्रात्मक शब्दों को चुना है।

पृथिवी के अणु-परमाणु में ईश्वर के दिव्य-दर्शन, आत्मा

की परख से उद्भूत आनंद एवं रस ने सभी महान् काव्यों को प्रभावित किया है, चाहे वे ऋचाएँ, छंद, मंत्र हों अथवा उपनिषद्, बाईबिल, कुरान, ग्रंथ साहिब, भगवद्गीता। न केवल पागल तथा प्रेमी कवि ही बल्कि दार्शनिक, प्रचारक कवि भी इस दर्शन से समानतः प्रेरणा-शक्ति ग्रहण करते रहे हैं। भौतिक तत्त्व से मुक्ति की प्रेरणा के उत्स से ही अनेक लोकगाथाएँ एवं गीतियां फूट पड़ी हैं। 'गीताञ्जलि' एक गीति है, आध्यात्मिक, सूफी एवं रहस्यात्मक गीतियों में एक, व्याख्या एवं कल्पना-चित्रों में उपनिषद-सी घनिष्ठ।

"ब्रह्म ही यात्रा का अंत है, अंतिम महत्तम लक्ष्य। प्रज्ञावान की इन्द्रियाँ उसके मन के अधीन हैं, उसका मन उसकी प्रज्ञा के अधीन है, प्रज्ञा अहं के अधीन और अहं स्वात्मा के अधीन है।

"कोई भी उसे चर्म चक्षुओं से नहीं देख सकता क्योंकि वह दृष्टिगोचर रूप से रहित है। फिर भी आत्म-निग्रह एवं ध्यान से वह हृदय में प्रकाश्य है। 'अंगुष्ठ मात्रः पुरुषोन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्ठः।' यदि उपनिषद ऐसा कहती है तो श्री ठाकुर की उक्ति भी द्रष्टव्य है—

'वह है अन्तर्तम निवासी।

शेवलिनी की छोटी-सी बांसुरी को पर्वतों एवं उपत्यकाओं पर तू ले चला है इसे नव्य दिव्य सुरों में फूँका है।' उपनिषदों एवं कबीर, नानक, दादू के पद्यों के समान 'गीताञ्जलि' अनंत के साक्षात्कार की अभिव्यक्ति है। ठाकुर ने कहा है कि एक विरहिणी उनके हृदय में बैठी है, फलतः उनका काव्य उसी विरहिणी की व्याकुल पुकार है, जो अपने स्वामी से कायिक पृथक्करण के बावजूद मनसा-वचसा उन्हीं के ऐश्वर्य में सतत रमती रहती है। इसी प्रकार की विह्वलता महादेवी वर्मा के काव्य में गुम्फित है।

दरअसल, अब तक की सारी सफल काव्यात्मक प्रगतियों में आध्यात्मिक पड़ाव पर पहुँच जाने की प्रगति लक्षित होती रही है, इलियट जैसे जाने पहचाने कवि की ऐसी ही प्रगति हुई थी।

ठाकुर ने अपने युग के साथ ही बीते युगों का भी प्रतिनिधित्व किया है तथा भारतीय ऋषियों के मतों को वाणी दी है; बाद में तो उनकी वेश-भूषा भी ग्रहण कर ली थी। कबीर की भाँति भारतीय उपमानों, प्रतीकों, विचार-संबंधों तथा रहस्योद्घाटन द्वारा कवि उस रहस्य को व्यक्त करता है जो रहस्य दार्शनिकों को विचारने, वैज्ञानिकों को अनुसंधान करने को प्रवृत्त करता है। हाँ, 'गीताञ्जलि' की अपनी सीमा है, इसका कथा-रूपक एकांगी है; सोलोमन के गीतों के अधिक निकट यद्यपि उसकी स्थूल मांसलता से दूर; न इसमें कबीर की भावधारा की समग्रता एवं एकनिष्ठा ही है, जहाँ इड़ा (बुद्धि) श्रद्धा पर हावी हो जाती है और श्रद्धा इड़ा पर, दोनों के ताल-मेल से काव्यानुभूति में पूर्ण सरसता आ जाती है या यह कभी-कभी स्त्रैण-भावाक्रांत भी हो जाती है, काव्य के राधाकृष्ण-सम्प्रदाय के सर्वथा अनुकूल, गोकि उसके पतनोन्मुख रूप की झलक यहाँ नहीं मिलती। यह ठीक है, 'गीताञ्जलि' उमर खैयाम की रुबाइयों की भाँति जीवन्त स्पंदनों से भरपूर नहीं है, जहाँ भविष्य तथा परलोक के विरुद्ध संघर्ष के सच्चे अनुभवों से जीवन के ताने-बाने बुने गये हैं और जहाँ शक्ति अपनी अभिव्यक्ति की प्रत्येक विधा से फूट पड़ी है। फिर भी, 'गीताञ्जलि' अपनी सचाई, नम्रता, घरेलूपन, लय एवं स्वरों की गूंज से संपन्न है, भरी-पूरी है, एक समर्थ काव्य-कृति है, भले ही इससे अधिक संपन्न एवं परिपूर्ण-अभिव्यक्तियाँ इसी सदी में हमारे यहाँ आई हों, इसके सदृश भाग्यवती नहीं। स्पष्ट है, अध्यात्म काव्य की सीमा नहीं है, काव्य की चरमोन्नति है, रूपक

की शक्ति अभिनवता में नहीं है, भावानुकूलता में है, अपनेपन में है।

५

कविता क्या है ? वड्सवर्थ का अतिशयोक्तिपूर्ण कथन—काव्य शक्तिशाली भावनाओं का स्वच्छंद उपरि-प्रवाह है—काव्य की परिभाषा करने में बस एक ही मंजिल तय कर पाया था, वह यह कि इससे भावावेगों का मूल्यांकन हुआ। ऑर्नल्ड का कथन—काव्य जीवन की आलोचना है—काव्य के एक दूसरे पक्ष को पुष्ट कर सका था, यह व्याख्या-पक्ष और फलतः विवेक, विश्लेषण पर बल देने में समर्थ रहा। परन्तु कविता न केवल शुद्ध भावाकुलता है न मात्र आलोचना। बाद में, काव्य को लोगों ने शब्दों की पच्चीकारी समझा, जो व्याख्या भी अधूरी ही थी। कविता, अन्य मानवीय अभिव्यक्तियों की भाँति, यहाँ तक कि चित्र-पट की रूप-रेखाओं और प्रस्तर-मूर्तियों की तरह, कल्पना एवं अनुभूति के महत् क्षणों का उद्गार है। वह कल्पना या अनुभूति दिव्य अथवा पार्थिव, आदर्शवादी अथवा लौकिक (यथार्थ), वस्तुनिष्ठ या भावना-प्रसूत हो सकती है, परन्तु यह प्रणेता की तत्संबंधी गंभीर निष्ठा से अनुस्यूत होती है। शब्द तभी सार्थक होते हैं जब कि कवि की निष्ठा की गहराई का प्रेषण वह पूर्णतः कर सके।

सौ प्रश्नों का उत्तर एक ही है, वह यह कि कविता मानव की विभिन्न अभिव्यक्तियों में एक अभिव्यक्ति भर है, शाब्दिक अभिव्यक्ति, जिसमें एक निचोड़ संपुट रहता है और जो निचोड़ अनुभूति से प्राप्त होता है तथा इसमें और अन्य कलाओं में कोई अंतर नहीं होता है और कविता न युगीन होती है न अ-युगीन, कविता वही सार्थक होती है जो छल नहीं करती है वाह्य उपकरणों में ही या अंतरंग से ही वरन् अनुभूति, प्रतिष्ठा या

आरोपन को चित्र-क्षम, ध्वनि-क्षम शब्दों में चेतनानुकूल व्यक्त कर देती है और उसी मात्रा में, उसी तीव्रता में श्रोता या पाठक तक पहुँच जाती है। रूपक, बिम्ब, लय, धुन, छंद सभी इसके माध्यम हैं, लक्ष्य नहीं और कविता का भविष्य बना हुआ है चूँकि कविता और विज्ञान में कोई विरोधाभास नहीं है, दोनों रहस्योद्घाटन-क्रियाएँ ही हैं, सत्यं, शिवम्, सुन्दरम् की स्थापन-विधाएँ ही हैं।

बदरीनारायण सिनहा

एम. ए., अंग्रेजी में;

कार्य-रत इंडियन पुलिस सर्विस में;

और लेखन मुख्यतः हिन्दी में, अंग्रेजी में भी।

प्रकाशित रचनाएँ :

प्राथमिकी, (१९६५)

मैना के उलझ गये डैना, (१९६६)

यह हिन्दी हिन्दवी है, (१९६६)

अब बहु से सब जन हिताय, (१९६६)

टटका आदम, (१९६६)

हिन्दी आलोचना : विगत, वर्त्तमान एवं भावी (१९६६)

प्रकाश्य : माध्यमिकी, आज तक की : हिन्दी

गद्य-रचना, झाँकियाँ, आगन्तुका,

भर मास संन्यास

MAN THOU CAN

ADAM TO ADAM

परिचय : साहित्यकार बदरीनारायण सिनहा : विक्रमशिला

साहित्य-परिषद् द्वारा प्रकाशित (१९६६)